नियामक सत्ता एवं उसकी विधि व्यवस्था

नियामक सत्ता एवं उसकी विधि व्यवस्था

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१० मूल्य : १९.०० रुपये

कण-कण में संव्याप्त एक ही चेतन सत्ता

परमात्मा के अस्तित्व के विषय में समय-समय पर भिन्न-भिन्न मान्यताएँ बनाई जाती रही हैं। विभिन्न स्वरूप निर्धारित किए गए, उनमें उलट-फेर होता रहा तथा आगे भी हो सकता है किंतु कुछ मूलभूत सिद्धांत सृष्टि में ऐसे हैं जो कभी नहीं बदलते तथा अदृश्य समर्थ सत्ता का अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। (१) नियम व्यवस्था (२) सहयोग (३) विशालता (४) उद्देश्य—ये चार विशेषताएँ सृष्टिक्रम की ऐसी हैं जो पदार्थ से लेकर चेतन प्राणियों में दृष्टिगोचर होती हैं। विवेक दृष्टि से इनका अध्ययन किया जाए तो कोई कारण नहीं कि परमात्मसत्ता के अस्तित्व से इनकार किया जा सके।

पिंड से लेकर ब्रह्मांड तथा चेतनजगत में एक नियम-व्यवस्था कार्य कर रही है। प्राणी पैदा होते, क्रमशः युवा होते तथा वयोवृद्ध होकर विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में एक निश्चित उपक्रम दिखाई पड़ता है। ऐसा कभी नहीं होता कि कोई वृद्ध रूप में पैदा हो और युवा होकर बच्चे की स्थिति में पहुँचे। प्रत्येक जीव चाहे मनुष्य हो अथवा छोटे प्राणी सभी इस व्यवस्था के अंतर्गत ही गतिशील हैं। वृक्ष-वनस्पतियों का भी यही क्रम है। अंकुरित बीज बढ़ते तथा पेड़-पौधों में विकसित होकर पुष्प, फल देते दिखाई देते और जराजीर्ण होकर मर जाते हैं। प्राणियों एवं वनस्पतियों के उत्पन्न होने, विकसित होकर जराजीर्ण स्थिति में जा पहुँचने और अंततः विनष्ट हो जाने के क्रम में शायद ही कभी कोई व्यतिक्रम देखा जाता हो।

इस नियम के अंतर्गत दूसरी विशेषता यह जुड़ी है कि एक विशेष प्रकार के बीज से विशेष प्रकार का वृक्ष ही तैयार होगा। गेहूँ के बीज से गेहूँ तथा धान से धान ही उत्पन्न होगा। गेहूँ के बीज से धान अथवा आम के बीज से अमरूद पैदा होने की बात नहीं सुनी जाती है। यही बात प्राणियों में देखी जाती है। पुरुष-स्त्री के संयोग से मानवाकृति ही उत्पन्न होगी। अपवादों को छोड़कर एक निश्चित जातियाँ अपने समान ही जातियों को जन्म देती हैं। यह निश्चित नियम प्रत्येक जीव-जंतु तथा वनस्पतियों में देखा जाता है।

न केवल जीवजगत वरन अणु से लेकर ब्रह्मांड तक सुव्यवस्थित क्रम में गतिशील हैं। प्रत्येक ग्रह-नक्षत्र एक निश्चित गति एवं निर्धारित कक्षा में परिक्रमा करते देखा जाता है। भौतिक विज्ञान के ज्ञाता इस तथ्य से परिचित हैं कि इनकी गति में थोड़ा भी अंतर आ जाए अथवा अपनी कक्षाओं से थोड़ा हटकर घूमने लगें तो सारी ब्रह्मांड-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो सकती है। एक ग्रह दूसरे से टकराकर चूर-चूर हो जाएगा तथा देखते-देखते महाविनाश का दृश्य उपस्थित हो जाएगा। समय की पाबंदी, गति की सुनिश्चितता तो प्रकृति में देखते ही बनती है। सूर्य प्रातःकाल निकलता तथा सायं को डूब जाता है। ऋतुएँ अपने समय पर ही आती हैं। बसंत ऋतु अपनी छटा नियत समय पर बिखेरती है। इनमें थोड़ा भी हेर-फेर सारे प्राकृतिक संतुलन को नष्ट कर सकता है। विराट ब्रह्मांड ही नहीं, बल्कि पदार्थसत्ता का सबसे छोटा कण परमाणु भी एक सुदृढ़ व्यवस्था का परिचय देता है। नाभिक में रहने वाले प्रोटॉन तथा बाहर कक्षों में घूमने वाले इलेक्ट्रॉन का संतुलन कक्षाओं में घूमने की प्रक्रिया भी पूर्णरूपेण व्यवस्थित है।

गहराई तक दृष्टि दौड़ाई जाए तो ज्ञात होता है कि व्यवस्था, नियम व्यवस्थापक, नियामक के अभाव में संभव नहीं। अपने आप तो खेतों में जंगलों में झाड़-झंखाड़ ही उगते हैं। बगीचा लगाने, पौधे उगाने तथा अन्न-फल प्राप्त करने के लिए श्रम एवं विचारशक्ति दोनों का उपयोग करना पड़ता है। सुंदर मकान, यंत्र, कला आदि भी कुशल कर्त्ता का भान कराती हैं तथा यह अनुमान लगाया जाता है कि उन कलाकृतियों के पीछे सुनियोजित श्रमशक्ति लगी है। ऐसा कभी संभव नहीं कि जड़ पदार्थ अपने आप गतिशील होकर सुंदर रचनाकृति में परिवर्तित हो जाएँ। अभिप्राय यह है कि मानवाकृति रचनाएँ भी कुशल मस्तिष्क संपन्न कर्त्ता का प्रमाण देती हैं तो फिर विराट सृष्टि जिसकी कल्पना कर सकने में भी मस्तिष्क असमर्थ है, का सुनियोजित एवं व्यवस्थित स्वरूप अपने आप कैसे विनिर्मित हो सकता है? दृष्टि दौड़ाई जाए तो संपूर्ण सृष्टि में नियमबद्धता देखी जा सकती है। यह हुई नियम की बात जिसे सृष्टि के कण-कण में सन्निहित देखा जा सकता है और किसी सुयोग्य नियामक के अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

दूसरा भिन्न आधार जिसके द्वारा परमात्मा के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है, वह है सहयोग। इसी पर ही सृष्टि की व्यवस्था टिकी है। सहयोग की परंपरा जड़-चेतन सबमें देखी जा सकती है। जड़-चेतन में विभेद दीखता तो है किंतु दोनों के बीच अन्योन्याश्रित संबंध है। एक के ऊपर दूसरे का अस्तित्व टिका है। जीवनचक्र चल रहा है सूर्य उगता है, प्रकाश बखेरता है। सभी जीव-जंतु, पेड़-पौधे उससे जीवन प्राप्त करते हैं। अपनी प्रकाश-संपदा को सूर्य समेट ले, बखेरना बंद कर दे तो पृथ्वी पर से जीवन लुप्त हो जाएगा। समुद्र सूर्यदेव के तप का अनुकरण करता तथा प्रकृति के संतुलन में अपना

योगदान देता है। अपनी जल-संपदा को सतत वाष्पित कर आकाश में बखेरता रहता है। नदियाँ समुद्र के जल की आपूर्ति करती रहती हैं। बादल समुद्र से प्राप्त अनुदान का संग्रह नहीं करता वरन पृथ्वी को अपनी जल-संपदा से सिक्त करता रहता है। इस प्रकार सहयोग का यह विस्तार चक्र चलता रहता तथा चेतना समूह का पोषण अभिवर्द्धन होता रहता है। यदि नदियाँ, बादल, सूर्य संकीर्ण हो जाएँ, एकदूसरे को सहयोग करना बंद कर दें तो सारा प्राकृतिक संतुलन डगमगा जाए तथा प्राणिजगत का अस्तित्व संकट में पड़ जाएगा।

सहयोग का यह सिद्धांत प्राणियों-वनस्पतियों के बीच भी देखा जाता है। जीव-जंतु वृक्ष-वनस्पतियों से स्वच्छ ऑक्सीजन प्राप्त करते हैं जबकि पेड़-पौधे प्राणियों द्वारा निष्कासित गंदी वायु को ग्रहण करते तथा उसी से अपना विकास करते हैं। आपसी सहयोग का यह क्रम थोड़े समय के लिए भी टूट जाए तो कुछ ही क्षणों में पृथ्वी से जीवन लुप्त हो जाए। सहयोग की यह प्राकृतिक व्यवस्था ही प्राणियों एवं वनस्पतियों के जीवनक्रम को सुचारु रूप से चलाती रहती है।

सहयोग की प्रवृत्ति सृष्टि के कण-कण में देखी जा सकती है। पदार्थ का स्थूल स्वरूप अणुओं के परस्पर संबद्ध रहने से ही दिखाई पड़ता है। यदि अणु वागी हो जाए तो उसका स्वरूप बिखर जाएगा। शरीरतंत्र को लिया जाए तथा देखा जाए तो स्पष्ट होगा कि सुगठित स्वस्थ शरीर अंग-प्रत्यंगों के परस्पर सहयोग पर ही गतिशील है। यहाँ तक कि शरीर की इकाई कोशिकाएँ भी पूरी मुस्तैदी के साथ इस प्रवृत्ति को अपनाए हुए हैं। परस्पर आबद्ध रहकर शरीर को दृढ़ बनाए रखती हैं। भोजन ग्रहण करने,पाचन तथा रक्त में परिवर्तन से लेकर नस-नाड़ियों में रक्त के संचार की प्रक्रिया में शरीर के विभिन्न

अंग-प्रत्यंगों की सहयोग भरी भूमिका देखी जा सकती है। इसमें थोड़ा भी व्यतिक्रम पूरे शरीरतंत्र को अस्त-व्यस्त कर सकता है। हाथ कार्य करना बंद कर दें तो पेट को भोजन नहीं प्राप्त हो सकेगा। पाचनतंत्र अपनी प्रक्रिया से विमुख होने लगे तो पेट में पहुँचा आहार सड़ने लगेगा तथा विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न होते जाएँगे। हृदय रक्त संचार की प्रक्रिया, गुरदे सफाई की क्रिया बंद कर दें तो कुछ ही घंटों में मृत्यु हो जाएगी। तात्पर्य यह है कि अंग-प्रत्यंगों के सहयोग पर ही शरीर की गतिविधियाँ संचालित हैं।

विशाल ब्रह्मांड तथा पिंड सभी के अस्तित्व को व्यवस्थित बनाए रखने में 'सहयोगिता का सिद्धांत' ही कार्य करता है। परमाणु के प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन एकदूसरे के बीच आकर्षण बनाए रखते हैं, उनका परस्पर असहयोग परमाणु विस्फोट के रूप में दिखाई पड़ता है। उनके परमाणुओं के सहयोग से ही पदार्थ सत्ता स्थिर बनी रहती है अर्थात सहयोगिता पर सृष्टि की सुव्यवस्था टिकी है।

सृष्टि की रचना की तीसरी विशेषता है—विशालता। इसकी विशालता के कारण ही ब्रह्मांड नाम से कहा गया है अर्थात बड़ा अंड अर्थात मंडल ब्रह्म विराट मंडल। भीमकाय पर्वत, अथाह समुद्र, रहस्यों से भरा अनंत अंतरिक्ष, असंख्यों ग्रह-नक्षत्र, तारा, पिंड को देखकर बुद्धि आश्चर्यचकित रह जाती है। अपने सौरमंडल के नक्षत्रों की अब तक जितनी जानकारी मिल सकी है उसकी तुलना में कई गुना जानना अभी शेष है। एक सूर्य का अभी तक रहस्योद्घाटन कर सकना संभव नहीं हो सका है। इस प्रकार के असंख्य सौरमंडल, आकाशगंगाएँ ब्रह्मांड में होने का वर्णन शास्त्रों में आता है। अनंत विस्तार व अनेक सूर्यों, ग्रह-नक्षत्रों से युक्त ब्रह्मांड की कल्पना मात्र से बुद्धि चकित हो जाती है। अविज्ञ के रहस्यमय क्षेत्र तक तो कल्पना

शक्ति भी नहीं पहुँच पाती है। उनको जान सकना तो और भी कठिन है। परमात्मा के इस विस्तार के कारण ही भारतीय धर्मशास्त्रों में ऋषियों ने नेति-नेति कहकर अपनी असमर्थता व्यक्त की।

विराट से कम रहस्यमय एवं विलक्षण सूक्ष्म जगत भी नहीं है। सूक्ष्मता की ओर जैसे-जैसे बढ़ते हैं शक्ति का अनंत सागर लहलहाता हुआ दिखाई पड़ता है। बरफ की अपेक्षा पानी और पानी से वाष्प कहीं अधिक सामर्थ्यवान है। प्रसिद्ध जीवशास्त्री डॉ. फ्रीट्ज ने पदार्थ के सूक्ष्म कण अणु का व्यास एक सेमी. का करोड़वाँ भाग बताया है। परमाणु तो इससे भी अधिक सूक्ष्मतम होता है किंतु पदार्थ की शक्ति उसके नाभिक में केंद्रित होती है। परमाणु की प्रचंड शक्ति से हर कोई परिचित है। स्थूल की शक्ति कई गुनी अधिक होती है। होमियोपैथी की उपचार-प्रक्रिया इसी सिद्धांत पर आधारित है। नगण्य से दिखाई देने वाले बीज में वृक्ष के आकार-प्रकार तथा उसकी विशेषताएँ छिपी पड़ी हैं। नन्हे से शुक्राणु अपने में मनुष्य की आकृति ही नहीं व्यक्तित्व की सारी विशेषताएँ छिपाए बैठा है। क्रोमोसोम के जीन्स माता-पिता के गुणों को अपने में समेटे बैठे हैं।

यह तो जड़ की बात हुई। अदृश्य सूक्ष्म की चेतन परतें तो और भी अद्‌भुत हैं। स्थूल तो मात्र कलेवर है जो कठपुतली के धागे के समान चेतन परतों द्वारा संचालित है। स्थूल कलेवर की हलचलें सूक्ष्म चेतना द्वारा ही नियंत्रित की जाती हैं। सामान्य जीवनक्रम में उसका एक नगण्य सा भाग व्यक्त होता है। उतना मात्र ही सारा परिणाम प्रदर्शित करता है। अव्यक्त की अनंत परतें तो और भी विलक्षण हैं। उसकी संभावनाएँ असीम हैं।

जहाँ विराट का असीम क्षेत्र मानवी मस्तिष्क को आश्चर्यचकित कर रहा है, वहीं सूक्ष्मता की ओर बढ़ने पर शक्ति का लहलहाता

हुआ सागर दिखाई पड़ता है। शास्त्रकारों ने परमात्मा के विराट एवं सूक्ष्म स्वरूप को देखकर कहा—'**अणोरणीयान् महतोमहीयान्**'।

सृष्टि रचना में सबसे प्रमुख और अंतिम बात रह जाती है जिसके बिना उपरोक्त तीनों प्रतिपादन अधूरे रह जाते हैं। वह है—सृष्टि रचना का उद्देश्य। संसार की प्रत्येक संरचना एवं घटनाओं से किसी विशिष्ट प्रयोजन की जानकारी मिलती है। पृथ्वी, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, नदियाँ, पर्वत, जीव-जंतु सभी एक निश्चित लक्ष्य को लेकर चलते एवं पूर्ण करते हैं। जीव-जंतुओं को जीवन धारण किए रहने के लिए पृथ्वी साधन जुटाती, अन्न, फल-फूल प्रदान कर उनका पोषण करती है। सूर्य प्राण संचार करता, पेड़-पौधों प्राणियों में शक्ति प्रदान करता है। उसके इस अनुदान से ही पृथ्वी का जीवन व्यापार चलता है। नदियाँ फसलों को सींचती तथा जीवों की प्यास बुझाती हैं। पृथ्वी पर जल की कमी न हो इसके लिए समुद्र अपने खारे जल को सतत वाष्पित करके बादलों में परिवर्तन करता रहता है। बादल समुद्र से प्राप्त संपदा को पृथ्वी पर बखेरना ही अपना परम लक्ष्य समझता है। इसकी पूर्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। विशालकाय पर्वत, जंगल आदि प्राकृतिक संतुलन में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। सृष्टिचक्र को संतुलित बनाए रखने में ग्रह-नक्षत्र निरंतर चक्कर लगाते रहते हैं। अन्यान्य प्राकृतिक संरचनाएँ भी निश्चित प्रयोजनों की पूर्ति में लगी हैं। सबका सम्मिलित उद्देश्य है—प्रकृति को सुव्यवस्थित एवं संतुलित बनाए रखना। इस महती प्रयोजन में जड़ संरचनाओं की चेष्टाएँ लगी हैं।

न केवल जड़ प्रकृति बल्कि चेतन प्राणियों के निर्माण में भी स्रष्टा का एक सुनिश्चित प्रयोजन है। अन्यान्य जीव-जंतु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी क्षमता के अनुरूप संलग्न हैं। सृष्टि का

सर्वश्रेष्ठ विचारशील प्राणी मनुष्य का निर्माण भी एक महान उद्देश्य के लिए हुआ है, वह है अपने छोटे प्राणियों को सहयोग करना तथा विश्ववसुंधरा को श्रेष्ठ समुन्नत बनाना। अतिरिक्त विशेष क्षमताएँ एवं प्रतिभाएँ उसे परमात्मा द्वारा इस महान लक्ष्य की पूर्ति के लिए दी गई हैं। यह देखा जाता है कि अन्य नन्हे जीव तथा जड़ पदार्थ अपने सुनिश्चित लक्ष्य की पूर्ति के लिए सतत प्रयत्नशील हैं जबकि मनुष्य ही अपने महान लक्ष्य को भूल गया है।

नियम व्यवस्था, सहयोग, विशालता, उद्देश्य—इन चार सिद्धांतों के पीछे उस अदृश्य सत्ता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है जिसे स्रष्टा, नियामक, परिवर्तनकर्त्ता एवं सर्वव्यापी परमात्मा कहा जाता है। ये चार सिद्धांत ऐसे हैं जिन्हें सृष्टि के कण-कण में व्याप्त देखा जा सकता है। दुराग्रह छोड़ा जाए तथा दूरदृष्टि अपनाई जाए तो सृष्टि के इन चारों सिद्धांतों में परमात्मसत्ता का इतना अधिक प्रमाण बिखरा पड़ा है, जिसे देखकर कोई भी विचारशील व्यक्ति परमात्मा के अस्तित्व से इनकार कर नहीं सकता।

आस्तिक तत्त्वदर्शन के मूलभूत आधार को सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक है कि उस परमशक्ति को समझाने का प्रयास उस वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में किया जाए। दैनिक जीवन में ये सभी सिद्धांत सही होते देखे जा सकते हैं। कोई नास्तिकवादी भी इकॉलाजी के परस्परावलंबन-नियम व्यवस्था एवं उद्देश्यपूर्ण क्रिया-कलापों की प्रामाणिकता पर संदेह नहीं कर सकता फिर उसे जान-बूझकर क्यों झुठलाया व अपने मन को समझाने का प्रयास किया जाए। इन विज्ञानसम्मत प्रतिपादनों को मानकर तो वास्तव में हम अपना ही हितसाधन करते हैं, क्योंकि प्रकारांतर से वे ब्रह्मांड के इस घटक पिंड में भी तो क्रियाशील हैं। ❐

स्नेह-सहकारिता का समुच्चय यह प्रकृति जगत

प्रकृति में जहाँ भी देखते हैं, पारस्परिक सहयोग का समष्टि चेतना का नैसर्गिक नियम क्रियाशील नजर आता है। वृक्ष अपने फलों को स्वयं नहीं खाते, नदियाँ औरों के लिए बहती हैं, सूर्य सतत परिश्रम करता व सक्रियता-चैतन्यता का विस्तार करता है। यह विश्व का नैसर्गिक नियम है। 'जियो और जीने दो' का यह सिद्धांत उदाहरण के रूप में जीवाणु, पेड़-पौधे एवं जीव-जंतुओं में साकार होता देखा जा सकता है। इकॉलाजी विज्ञान के अंतर्गत जीवों एवं वनस्पतियों में सहयोग का वर्णन आता है। इसे हमें अच्छी तरह समझना हो तो कृषि-विज्ञान की 'लैग्युमिनैसी' अर्थात फलियों वाले पौधों; जैसे—चना, मटर, सेम, सोयाबीन आदि की रचना, जीवन धारण और विकास पद्धति का अध्ययन करना पड़ेगा। इन पौधों की जड़ों में बड़ी-बड़ी गाँठें होती हैं। स्थूल आँख तो नहीं पर किसी गाँठ को चीरकर माइक्रोस्कोप से देखें तो उसके अंदर अरबों की संख्या में जीवाणु (बैक्टीरिया) हलचल करते हुए दिखाई देंगे। प्रकृति ने सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की सुरक्षा के कितने सुदृढ़ खोल तैयार किए हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है। पर यह सब उसने केवल सुरक्षा के लिए ही नहीं किया है।

पौधों के अच्छे विकास के लिए यह आवश्यक है कि मिट्टी से नाइट्रोजन की पर्याप्त मात्रा मिले। जड़ें हलकी होने के कारण यह काम नहीं कर सकतीं, इसलिए मात्र नाइट्रोजन चूसकर देने का किराया लेकर यह पौधे उन जीवाणुओं को आजीवन अपने भीतर

सुरक्षित स्थान दिए रहते हैं। इस प्रकार ये गाँठे एक महत्त्वपूर्ण नाइट्रोजन चक्र में भाग लेकर बैंक की भूमिका निभाती हैं व समय आने पर अवशोषित नोषजन को पोषक द्रव्य के रूप में पौधों को प्रदान करती हैं।

जिस प्रकार जीवित प्राणी प्रोटोप्लाज्मा नामक तत्त्व से बना होता है, उसका सबसे सूक्ष्म कण सेल कहलाता है, उसी प्रकार वनस्पति के सबसे छोटे अणु का नाम जीवाणु (बैक्टीरिया) है। इन्हें एक कोशिका वाले पौधे कहा जा सकता है और वह इतने सूक्ष्म होते हैं कि माइक्रोस्कोप की सहायता के बिना देखे नहीं जा सकते। यही जीवाणु मनुष्य एवं पशुओं की आहार नली में रहते हैं और सेल्यूलोज वाले भाग को पचाने का काम करते हैं। जीवाणु कोशिका की लंबाई ०.५ माइक्रोन तक होती है। यह तीन प्रकार के होते हैं—गोलाणु (कोकस), दंडाणु (बैसिलस) और सर्पिलाणु (स्पिरिलस)।

कोशिका जिस तरह प्रोटीन के आवरण में बंद होती है और उसके भीतर केंद्रक (न्यूक्लियस) काम किया करता है, उसी प्रकार जीवाणु कोशिका एक लिसलिसी श्लेष्मा पर्त में बंद होती है। कोशिकाभित्ति की सुरक्षा के लिए प्लेज्मा झिल्ली (प्लाज्मा मैम्ब्रेन) होती है किंतु किन्हीं जीवाणु कोशिकाओं में केंद्र नहीं भी होते हैं तो भी उनमें केंद्रकीय पदार्थ (कोमिटिन) अवश्य होता है। यह जीवकोश भी अलैंगिक रीति से स्वयं ही बढ़ने की वैसी ही क्षमता रखते हैं, जैसे कि 'प्रोटोप्लाज्मा केंद्रक'।

एक कोशिका से विभाजन प्रारंभ होता है तो १५ घंटे बाद उसी तरह की एक अरब संतति कोशिकाएँ जन्म ले लेती हैं। ३६ घंटे बाद इनकी तादाद इतनी हो जाती है कि उससे सौ ट्रक भरे जा सकते हैं।

यह गति यदि निर्बाध चलती रहे तो ४८ घंटे बाद एक कोशिका से बनी अन्य कोशिकाओं का भार पृथ्वी के भार से चौगुना अधिक हो जाएगा, किंतु उसकी देह से निकले विषैले पदार्थ इस वृद्धि को रोक देते हैं और यह गति रुक जाती है। वस्तुतः यह बाढ़ मानव जाति के हित में ही है।

जीवाणु सर्वत्र विद्यमान रहकर मनुष्य जाति की बड़ी सेवा करते हैं, एक प्रतिशत जीवाणु ही मनुष्य के लिए हानिकारक हैं। अन्यथा पौधों और जंतुओं के हानिकारक तत्त्वों और मृत अवशेषों का विघटन यह जीवाणु ही करते हैं। प्रतिवर्ष प्रति पौधा २०० अरब टन कार्बन, कार्बन डाइऑक्साइड गैस लेकर प्रकाश-किरणों द्वारा उसे जैव पदार्थ में बदल देता है। यह कार्बन जीवों द्वारा पैदा की जाती है। यदि जीवाणु यह क्रिया संपन्न न करें तो सारा वायुमंडल कार्बन डाइ-ऑक्साइड से आच्छादित हो जाए और मनुष्य का धरती पर रहना कठिन हो जाए।

जीवाणु की क्रिया और प्रोटोप्लाज्मा की कोशिका (सेल) की क्रिया का तुलनात्मक अध्ययन करें तो दोनों में एक जैसी चेतना ही दिखाई देती है, जैसे कि ऊपर बताया जा चुका है, आकृति और कार्य प्रणाली में थोड़ा अंतर है, जो मनुष्य के हित में पूरक ही है। यदि यह पूरक क्रिया संपन्न न हो तो मनुष्य का जीवन खतरे में पड़ जाए। विश्व चेतना का यह अंश मनुष्य के उपयोग में आता है पर उसका यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिए कि उनमें आत्मा नहीं है। यदि मनुष्य की प्रजनन प्रणाली, मल विसर्जन आदि की क्रियाएँ और उसकी परमाणविक रचना में तथा वृक्ष-वनस्पतियों की क्रिया प्रणाली में साम्य पाया जाता है तो उसे विश्वव्यापी चेतना का स्वरूप

ही मानना चाहिए। यदि विज्ञान की इन उपलब्धियों से भी मनुष्य यह मानने को तैयार नहीं होता तो उसे हठधर्मी ही कहा जाएगा। इकॉलाजी के इन सिद्धांतों को झुठलाया नहीं जा सकता।

मनुष्य मर जाते हैं पर उनके कारणशरीर कभी नष्ट नहीं होते, सच पूछा जाए तो महापुरुषों के शरीर हाड़-मांस के नहीं गुण के बने होते हैं और जन्म-जन्मांतरों तक बरतते रहते हैं। नाइट्रोजन जिसे पत्तियों, फल-फूलों, टहनियों ने सोख लिया था, उनके सूख जाने पर भी विद्यमान रहता है। पत्ते आदि सूखकर पृथ्वी में गिर जाते हैं या हरे होने पर जानवरों द्वारा चर लिए जाते हैं। दूसरी अवस्था में वह शरीर के उपयुक्त न होने पर मल-मूत्र के द्वारा अमोनिया के रूप में बाहर निकल आता है। मृत्यु हो जाने पर भी वह जानवरों के शरीर से बाहर आ जाता है, पहली अवस्था में भी वह पृथ्वी में आ जाता है और इधर-उधर बिखर जाता है। इस प्रकार यह सतत जीवनचक्र को गतिशील बनाकर रखने के लिए विद्यमान रहता है। उसके इस अक्षुण्ण अस्तित्व एवं अमर होने की मूल स्पष्ट भूमि इकॉलाजी का सहकार पर आधारित वह सिद्धांत है जो स्रष्टा द्वारा निर्धारित किया गया है।

वायुमंडल की नाइट्रोजन विद्युत प्रभाव से ऑक्सीजन से मिलकर नाइट्रिक ऑक्साइड बनाती है। जो मेघ जल से मिलकर नाइट्रिक अम्ल बनाते हैं और पृथ्वी तल पर गिरकर धरती के अन्य लवणों से क्रियान्वित होकर नाइट्रेट में परिणत होते हैं। इतनी लंबी प्रतिक्रिया में से गुजरने के बाद तब कहीं नाइट्रोजन इस योग्य बनती है कि उसे प्राणियों के शरीर और पौधे सोखकर आत्मसात कर सकें।

पौधों के नाइट्रेट लवणों में प्रोटीन बनाते हैं। वनस्पति उसकी पत्ती, फल-फूल खाकर उसके तत्त्व को प्राणी अपने शरीर में ग्रहण करते हैं। जानवर मल और मूत्र के द्वारा बहुत सा नाइट्रोजन धरती को लौटा देते हैं। जो उनके शरीर में बचा रहता है, वह मरने के बाद सड़ने या जलने पर फिर लौटकर धरती को या वायुमंडल को मिल जाता है। इस प्रकार वायुमंडल का नाइट्रोजन जल, वनस्पति, प्राणी, धरती और फिर वायुमंडल में भ्रमण करके एक सुव्यवस्थित चक्र की तरह घूमता रहता है।

आकाश स्थित नाइट्रोजन वायु का बादल बिजली की सहायता से वर्षा के साथ खाद बनकर धरती पर आना, पृथ्वी के संयोग से उसका वनस्पति के रूप में उगना, वनस्पतियों का प्राणियों द्वारा भक्षण किया जाना और उसका प्रोटीन जैसे उपयोगी पदार्थों में परिवर्तित होना, मल-मूत्र द्वारा उसका धरती पर आना, वस्तुओं की सड़न से उसका फिर आकाश में लौटना, यह एक ऐसा चक्र है जो निरंतर चलता रहता है, इसे जीवनचक्र भी कह सकते हैं। धरती पर सजीवता बनाए रखने में नाइट्रोजन की इस महान भूमिका को सहयोग-सहचार पर चलने वाले जीवन-व्यापार का समर्थ उदाहरण समझा जा सकता है।

हर कोई जानता है कि विवाह बंधन के साथ कितने उत्तरदायित्व, बंधन और कर्त्तव्य जुड़े हुए हैं। उन्हें निभाते-निभाते आदमी का कचूमर निकल जाता है। नारी को प्रसव की विकट पीड़ा, शिशु-पालन का कठिनतम कार्य और पति तथा ससुराल वालों को प्रसन्न रखने में लगभग आत्मसमर्पण जैसी तपस्या करनी पड़ती है। नर को भी कम भार वहन नहीं करना पड़ता। इन

कठिनाइयों से परिचित होते हुए भी हर कोई विवाह की आशा लगाए बैठा रहता है और वैसा अवसर आते ही हर्षोल्लास अनुभव करता है। जिन दांपत्य जीवन में सघन आत्मीयता विकसित होती है, वहाँ पारस्परिक सान्निध्य स्वर्गोपम प्रतीत होता है। पति-पत्नी की योग्यताएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं, जब वे मिल-जुलकर एक हो जाते हैं तो दोनों को ही लाभ होता है, दोनों ही अपने अभावों की पूर्ति करते हैं। वृद्धों का अनुभव, बालकों का विनोद, उपार्जनकर्त्ताओं का धन आदि मिलकर ऐसा संतुलन बनता है, जिसमें परिवार के सभी सदस्यों का हितसाधन होता है। सभी एकदूसरे के सहयोग का लाभ उठाते हुए आनंद में रहते और उत्साह पाते हैं। यदि यही परिवार के सदस्य, मात्र एक सराय में रहने वाले अजनबी मुसाफिरों की तरह निर्वाह करें तो उनका असहयोग और मनोमालिन्य उस समूह को आनंदरहित, नीरस और समस्याओं से भरा हुआ बना देंगे और उसका बिखर जाना ही श्रेयस्कर प्रतीत होगा।

जहाँ तक परस्पर सहयोग का प्रश्न है, निम्नकोटि के प्राणियों में पारिवारिक सहयोग अत्यंत स्वल्प रहता है। कामोन्माद के कारण नर-मादा कुछ ही क्षणों के लिए पति-पत्नी बनते हैं और वह आवेश उतरते ही दोनों अपरिचित बन जाते हैं। तनिक सा स्वार्थ व्यवधान पड़ने पर इस क्षण के पति-पत्नी अगले ही क्षण एकदूसरे पर प्राणघातक आक्रमण करने में नहीं चूकते। संतान को मादा सँभालती है और वह भी तब तक, जब तक वह अपने पैरों खड़ा नहीं हो जाता। इसके बाद जब बच्चा स्वावलंबी हो जाता है तो न माता को संतान से स्नेह रहता है और न संतान माता से कोई रिश्ता रखती है। बाप संतान-पालन में यत्किंचित ही सहयोग देता है। माता को प्रकृति ने यह

क्षणिक वात्सल्य इसलिए दिया है कि उस प्राणी का वंश नष्ट न होने पावे। विवेकपूर्ण सहयोग के आधार पर इन प्राणियों का परिवार नहीं बनता। यदि बना होता तो उसमें स्थिरता और सघनता का क्रम आगे भी चलता रहता पर वैसा प्रायः देखने में नहीं आता। इसी कारण वे कोई खास विकास नहीं कर सके, जबकि मनुष्य दिन-दूनी रात चौगुनी प्रगति करता चला जाता है। तथ्यों की गहराई में प्रवेश करते हुए मनुष्य की एक ही सर्वोपरि विशेषता उभरकर आती है—सहकारिता की प्रवृत्ति। फिर भी इसी दृश्य जगत में अनेकों शिक्षाएँ वनस्पति जगत एवं जीवजगत से ही मनुष्य प्राप्त कर अपनी सत्प्रवृत्तियों को पोषण दे सकता है।

दृश्य प्रकृति के वनस्पति जगत में नजर आने वाली सहकार जैसी प्रक्रिया जीव-जंतुओं में भी देखने को मिलती है। यह सिद्ध करती है कि सृष्टि की संरचना सोद्देश्य है एवं मूक दिखाई पड़ते जीव-जंतुओं में भी वही समष्टि चेतना संव्याप्त है जो मानव को संघबद्ध रहने के लिए बाधित करती है।

यह बात सही है कि मनुष्य जन्मजात रूप से बुद्धिमान नहीं होता। पशुओं के बच्चे बिना सिखाए माता के थन और अपनी खुराक आप ढूँढ़ लेते हैं जबकि मनुष्य का बच्चा कई वर्ष का होने तक पेट भरने तक में पराश्रित रहता है। भेड़ियों की माँद में पाया गया तीन वर्षीय रामू भेड़ियों की तरह ही चलता, बोलता, खाता, सोता था। शिकारियों ने उसे पकड़ा और लखनऊ मेडीकल कॉलेज में उसके सुधार का उपक्रम हुआ तो वह भी मनुष्य सभ्यता को बहुत थोड़ा ही अपना सका। यदि जन्मजात बुद्धिमत्ता मनुष्य को मिली होती तो घने जंगलों में रहने वाले पिछड़े हुए आदिवासी अपनी सहज वृत्ति से

अन्य लोगों की तरह सभ्य हो गए होते। वस्तुतः मनुष्य को बुद्धिमत्ता सहित जितनी भी उपलब्धियाँ मिली हैं उन सबकी जननी सहकार प्रवृत्ति ही है।

यह सहकारिता क्या है व मनुष्य के जीवन में किस प्रकार एक अहम भूमिका निभाती है ? इसे समझाते हुए दार्शनिक-चिंतक श्री एल्डुअस हक्सले कहते हैं कि मनुष्य की बुद्धिमत्ता, शारीरिक चेष्टा और प्रयत्नपरायणता के मूल में जो अत्यंत प्रेरक दिव्य प्रवृत्ति झाँकती है, उसे ही सहकारिता कहते हैं। वस्तुतः यही मानव रूपी प्राणी की सबसे बड़ी विशेषता है। अन्य प्राणियों में यह वृत्ति यत्किंचित पाई जाती है, पर प्रायः वह शरीर समीपता तक ही सीमित रहती है। मानसिक आदान-प्रदान कर सकने योग्य उनकी स्थिति नहीं है। कुछ पशु-पक्षी जोड़े बनाकर समूह में साथ-साथ रहने के अभ्यस्त तो होते हैं, इससे उन्हें सुरक्षा में सहायता मिलती है। कुछ और छोटे-मोटे शारीरिक आदान-प्रदान कर लेते हैं, पर मानसिक और भावनात्मक आदान-प्रदान उनसे बन नहीं पड़ता। सहकारिता वृत्ति का सीमित प्रयोग कर सकने के कारण ही अन्य प्राणी सृष्टि के आदि से लेकर अब तक जहाँ के तहाँ पड़े हैं, जबकि मनुष्य उस दिव्य प्रवृत्ति को अधिकाधिक विकसित करते हुए उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँच सकने में सफल हो गया।

सीमित ही सही, किंतु जिस प्रकार की सहकारिता वृत्ति का परिचय वनस्पति वर्ग की फफूँद से लेकर जीव-जंतुओं में दिखाई पड़ता है, वह सिद्ध करता है कि यह विशेषता प्रवृत्तियों के कारण नहीं, विधाता के अनुदानों के कारण है।

सेलूलाइटिक फफूँद की दो जातियों में एक जाति बलवान होती है, दूसरी निर्बल। जो निर्बल होते हैं, वह अपने आहार 'सेलूलोज' को तोड़-फोड़ नहीं सकते। अब शक्तिशाली फफूँद सेलूलोज को तोड़ना प्रारंभ करते हैं और उसमें कार्बनिक अम्ल पैदा कर देते हैं। यह कमजोर सेलूलाइटिक फफूँद को सहारा न देते तो उनकी एक जाति कभी की नष्ट हो गई होती।

'जूक्लोरेली' एक प्रकार की वनस्पति है, जो अन्य वनस्पतियों के समान खुले आकाश में नहीं जीवित रह पाती। उसकी कोमल कोशाएँ धूप, शीत और वर्षा के तीव्र आघात सहन करने में वैसे ही असमर्थ होती हैं, जैसे कोमल बच्चे, बीमार और अपाहिज व्यक्ति।

हाइड्रा एक छोटा सा जीव है, उसे भोजन की आवश्यकता होती है, पर अपने लिए उपयुक्त भोजन की प्राप्ति कर पाना उसके लिए कठिन होता है। प्रकृति ने उसकी परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी बनाई हैं।

उपरोक्त परिस्थितियों में 'जूक्लोरेली' पौधा 'हाइड्रा' जीव के शरीर में रहने लगता है, वहाँ वह अपने आप को सुरक्षित अनुभव करता है, पर चूँकि वह वनस्पति है, इसलिए उसे भोजन प्रकाश संश्लेषण (फोटोसिंथेसिस अर्थात सूर्य प्रकाश में होने वाली एक रासायनिक प्रक्रिया) क्रिया से मिल सकता है, उसके लिए कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस मिलना आवश्यक हो जाता है, ताकि आवश्यक क्लोरोफिल (हरा पदार्थ) तैयार करके वह अपने संपूर्ण अंगों का सेवन कर सके। इस कार्बन डाइ-ऑक्साइड की आवश्यकता को हाइड्रा अपनी छोड़ी हुई साँस से पूरी कर देता है और जूक्लोरेली

द्वारा छोड़ी हुई ऑक्सीजन आप ग्रहण कर लेता है। इस तरह परस्पर सहयोग से दोनों प्रसन्नतापूर्वक जीते हैं। फोटोसिंथेसिस क्रिया से हाइड्रा को भी शक्ति मिलती रहती है।

एक समय था जबकि अंजीर केवल अर्जेंटाइना में पाई जाती थी। वहाँ से स्माइराना नामक अंजीर के कुछ पौधे कैलीफोर्निया में लाए गए। इन पौधों को उगाने के लिए बहुतेरे प्रयत्न किए गए, अच्छी खाद दी गई, पानी दिया गया, मिट्टी दी गई पर सब कुछ निरर्थक गया। अंजीर का पौधा बढ़ तो गया, उसमें फूल भी आ गए, किंतु बाँझ। उन फूलों पर फल उतरे ही नहीं। वैज्ञानिकों ने परागण के सारे प्रयत्न कर लिए पर उनकी एक न चली।

अंत में अमेरिका के वैज्ञानिक उस देश में गए, जहाँ से अंजीर का पौधा आया था। पौधे के विकास का सूक्ष्म अध्ययन करते समय उन्होंने देखा कि एक विशेष जाति की बर्र ही जब इन पौधों पर आती है, तभी 'पोलीनेशन' (पौधों में संयोग) की क्रिया संपन्न होती है। इन बर्रों को तब कैलीफोर्निया लाया गया। जैसे ही बर्रें इन पौधों के फूलों पर बैठीं 'पोलीनेशन' क्रिया प्रारंभ हो गई और बाँझ अंजीर के पौधे खूब फलने लगे। यह बर्र भी इस फूल से अपने लिए पर्याप्त पराग प्राप्त करती रहती है। उसका अधिकांश पोषण इन अंजीर के ही फूलों से होता है।

समुद्र में एक प्रकार का शंख पाया जाता है। उसका कीड़ा निकल जाता है, तब 'आर्थोपोडा' वर्ग का हरमिट क्रेब नामक जल-जंतु उसमें जा बैठता है। सोचता तो वह यह है कि यहाँ वह सुरक्षित रहेगा, किंतु यहाँ भी उसे शत्रु का भय बना रहता है। मछलियाँ उसे कभी भी पकड़कर खा जाती हैं। यदि उपयोगितावाद का सिद्धांत ही

सत्य और व्यावहारिक रहा होता तो इस कीड़े की वंशावली ही समाप्त हो गई होती।

पर प्रकृति ने उसे सहयोग के लिए प्रेरित किया। वहीं पर 'फाइसेलिया' नामक एक जानवर पड़ा होता है। बेचारा अपने आहार के लिए चल-फिर नहीं सकता। आर्थोपोडा उसे अपने शंख की पीठ पर बैठा लेता है और उसे यहाँ से वहाँ घुमाता रहता है। प्रत्युपकार में फाइसेलिया उस आर्थोपोडा की रक्षा का भार स्वयं वहन करता है। फाइसेलिया अपने शरीर से काई की तरह का एक दुर्गंधित पदार्थ निकालता रहता है, फलस्वरूप वह जहाँ भी रहता है, मछलियाँ भयभीत होकर पास नहीं आतीं और यही द्रव छोटे-छोटे जंतुओं के मारने के काम आता है और इससे फाइसेलिया एवं हरमिट क्रेब दोनों को भोजन भी मिल जाता है और इस तरह आर्थोपोडा का जीवन सुरक्षित बना रहता है।

दोनों के परस्पर सहयोग की यह व्यवस्था इतनी सुनियोजित प्रतीत होती है कि कहीं संयोग को इसमें स्थान नहीं दिया जाता। ऐसे अनेकों उदाहरण जीवजगत में देखने को मिलते हैं।

न्यू गायना के बरफीले भाग में रहने वाली काली चिड़िया जब प्यासी होती है तो झुंड बनाकर एक जगह बैठ जाती हैं। पेट की गरमी से जो बरफ पिघलती है, उसे पीकर वे अकसर अपनी प्यास बुझाती हैं। एक चिड़िया बरफ पिघलाने का काम नहीं कर सकती इसलिए उन्हें संगठित प्रयोग ही उपयुक्त जँचा है।

'संघर्ष और सहयोग' पुस्तक में जीव वैज्ञानिक डॉ. साहबर्ट ने जंगल जीवन की व्याख्या करते हुए एक गिलहरी और गौरैया में प्रगाढ़ मैत्री का वर्णन किया है। गिलहरी यद्यपि अपने बच्चों की

देख-रेख करती और अपने सामाजिक नियमों के अनुसार अन्य गिलहरियों से मेल-मुलाकात भी करती, पर वह दिन के कम से कम चार घंटे गौरैया के पास आकर अवश्य रहती, दोनों घंटों खेला करते। दोनों ने एकदूसरे को कई बार आकस्मिक संकटों से बचाया और जीवन रक्षा की। गिलहरी आती तब अपने साथ कोई पका हुआ बेर गौरैया के लिए अवश्य लाया करती। गौरैया वह बेर गिलहरी के चले जाने के बाद खाया करती। विद्वान वैज्ञानिक का मत था कि प्रकृति में संघर्ष नहीं, सभी ओर सहयोग ही देखने को मिलता है। उनके अनुसार डार्विन का यह कथन कि संघर्ष पर अस्तित्व निर्भर है, व्यवहार रूप में प्रकृति जगत में कहीं भी देखने को नहीं मिलता।

चींटी जैसे क्षुद्र से जीव का अध्ययन करने पर अनेकों महत्त्वपूर्ण तथ्य हाथ लगते हैं। चींटियों के जीवन में सामान्यत: मजदूर चींटियों में कोई विलक्षणता नहीं होती, उनमें बुद्धि, अपनी निजी इच्छा भी नहीं होती है, एक नियम व्यवस्था के अंतर्गत जीती रहती हैं तथापि प्रेम की आशंका उनमें भी होती है और वे अपने कोमल भाव को दबा नहीं सकतीं। इस अंतरंग भाव की पूर्ति वे किसी और तरह से करती हैं। वह तितली के बच्चे से ही प्रेम करके अपनी आंतरिक प्यास बुझाती है। यद्यपि यह सब एक प्राकृतिक प्रेरणा जैसा लगता है पर मूलभूत भावना का उभार स्पष्ट समझ में आता है। तितलियाँ फूलों का मधु चूसती रहती हैं, उससे उनके जो बच्चे होते हैं उनकी देह भी मीठी होती है। माता-पिता के स्थूल शारीरिक गुण बच्चे में आते हैं, यह एक प्राकृतिक नियम है। तितली के नन्हे बच्चे, जिसे लार्वा कहते हैं, मजदूर चींटी सावधानी से उठा ले जाती है, उसके शरीर के मीठे अंग को चाट-चाटकर चींटी अपने परिवार के लिए

मधु एकत्र कर लेती है। पर ऐसा करते हुए स्पष्ट सा पता चलता रहता है कि यह एक स्वार्थपूर्ण कार्य है इसलिए वह थोड़ी मिठास एकत्र कर लेने के तुरंत बाद उस बच्चे को परिचर्या भवन में ले जाती है और उसकी तब तक सेवा-सुश्रूषा करती रहती है, जब तक लार्वा बढ़कर एक अच्छी तितली नहीं बन जाता। तितली बन जाने पर चींटी उसे हार्दिक स्वागत के साथ घर से विदा कर देती है। जीवशास्त्रियों के लिए चींटी और तितली की यह प्रगाढ़ मैत्री गूढ़ रहस्य बनी हुई है। वे इस परस्पर परोपकार पर आधारित मैत्री को विज्ञान की भाषा में नहीं समझा सकते, पर अध्यात्म विज्ञान के चेतना संबंधी प्रतिपादनों के परिप्रेक्ष्य में इसे भलीभाँति हृदयंगम किया जा सकता है।

ग्रह-नक्षत्रों के बीच किसी प्रकार की कोई रिश्तेदारी नहीं, सभी अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ विद्यमान हैं, फिर भी इस विराट ब्रह्मांडरूपी परिवार में उन्हें सहयोगी सदस्यों के रूप में देखा-समझा जा सकता है। समष्टि चेतना एक है एवं सहकार परोपकार एक दैवी गुण है जो अस्तित्व बनाए रखने के लिए अनिवार्य है। प्रकृति जगत एवं निखिल ब्रह्मांड के ये उदाहरण मनुष्य को यह बता देने के लिए पर्याप्त हैं कि उसे अपना जीवन श्रेष्ठ स्तर का जीना चाहिए, जिसमें सभी को फलने-फूलने, विकसित होने का अवसर मिल सके। क्षुद्रता की प्रवृत्ति, मिथ्या अभिमान उसकी चेतना पर आधिपत्य न जमने पाए, यह तथ्य समझकर ही विकास-पथ पर आगे बढ़ा जा सकता है।

❐

संतुलन एवं अनुशासन की पर्याय ईश्वरीय विधि व्यवस्था

कथा है कि एक बार देवता और असुर अपने बड़प्पन का निर्णय कराने ब्रह्माजी के पास पहुँचे। उन्होंने परीक्षा के उपरांत अपना अभिमत बताने की बात सुरक्षित रखी। दूसरे दिन दोनों वर्गों को पृथक-पृथक स्थानों पर भेज दिया गया। जब खाने की घड़ी आई तो ब्रह्माजी ने दोनों पंक्तियों की कोहनियाँ न मुड़ने का मंत्र पढ़ दिया। अब खाया कैसे जाए, मुँह से हाथ तो बहुत दूर होता है। असुरों ने हाथ ऊपर उठाकर मुँह में ग्रास पटके पर वे इधर-उधर गिरे, मुँह में एकाध ग्रास ही पहुँचा। मुँह तथा कपड़े बुरी तरह खराब हुए। दूसरी ओर देवताओं ने इस स्थिति में सहयोग बरता। एक ने अपनी थाली का भोजन अपने हाथ से दूसरे को खिलाया। दूसरे ने तीसरे को। इस प्रकार सभी का पेट भर गया, जबकि संकीर्ण स्वार्थपरता की आपा-धापी में निमग्न सभी असुर भूखे उठ गए। निर्णय हो गया। परार्थी देवता श्रेष्ठ घोषित हुए। यही सहयोग चक्र सदा-सर्वदा से मनुष्यों के बीच कार्यान्वित होता रहा है। इसी आधार पर सार्वजनिक प्रगति संभव हुई है। इसमें व्यवधान पड़े तो फिर आदिमकाल की ओर लौटने के अतिरिक्त और कोई चारा न रहेगा।

पारस्परिक स्नेह-सहयोग इस सृष्टि का स्वाभाविक क्रम है। इसी आधार पर सारी विश्व व्यवस्था सुनियोजित ढंग से चल रही है। इसमें जहाँ भी व्यतिक्रम होता है, वहीं संतुलन डगमगाता और व्यवस्था बिगड़ने पर विग्रह खड़े होते हैं। इस दृष्टि से शरीरचक्र, जलचक्र, वनस्पतिचक्र दृष्टव्य हैं। हाथ कमाता है। उस कमाई को

भोजन के रूप में मुँह को देता है। मुँह चबाने का श्रम जोड़कर उसे पेट के सुपुर्द करता है। पेट उसमें अपने पाचक रस मिलाकर आँतों की गुरदों की ओर धकेलता है, वहाँ से वह उपार्जन, हृदय में रक्त बनकर पहुँचता है।

जलचक्र भी ऐसा ही है। समुद्र से बादलों को—बादलों से धरातल को—धरातल से नदी-नालों, कुएँ-तालाबों को मिलता है। इसके बाद वह घूमता-फिरता फिर समुद्र में जा पहुँचता है। यह पारस्परिक स्नेह सहकार का भाव भरा आदान-प्रदान है।

जमीन से वृक्ष-वनस्पतियों का परिपोषण, वनस्पतियों से प्राणियों का निर्वाह, प्राणियों के मलमूत्र से धरती की उर्वरता, उस उर्वरता के सहारे फिर वनस्पति उगने का उपक्रम—इस क्रम की कोई कड़ी बीच में टूटे तो समझना चाहिए कि वनस्पतियों और प्राणियों में से एक का भी जीवित रहना संभव न होगा। यह वनस्पतिचक्र है। मनुष्य कार्बन गैस उगलता है, उसे वृक्ष खाते हैं। वृक्ष ऑक्सीजन उगलते हैं, उससे मनुष्यों को प्राणवायु उपलब्ध होती है।

समन्वय-सहकार एवं परस्पर आदान-प्रदान की यह विधि-व्यवस्था सब ओर देखी जा सकती है।

ईंटों के समन्वय से भवन बनते हैं। बूँदों के मिश्रण से बादल बनते हैं। परमाणुओं का सहयोग पदार्थ की रचना करना है। अवयवों का संगठित स्वरूप शरीर है। पुरजों की घनिष्ठता मशीन के रूप में परिणत होती है। पंचतत्त्वों से मिलकर यह विश्व सृजा है। पंच प्राण इस काया को जीवित रख रहे हैं। दलबद्ध योद्धा ही समर्थ सेना है। कर्मचारियों का गठित स्वरूप ही सरकार चलाता है। यदि इन संघटकों में पृथकतावादी प्रवृत्ति पनपे और डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग-

अलग पकने लगे तो जो कुछ महान दिखाई पड़ता है तुच्छ में बदल जाएगा।

जर्मन प्राणिशास्त्रवेत्ता हेकल भी आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि सृष्टिक्रम विविध इकाइयों के सहयोग-संतुलन पर चल रहा है। जिस प्रकार शरीर के कलपुरजे, कोशिकाएँ और ऊतक मिल-जुलकर जीवन की गतिविधियों का संचालन करते हैं उसी प्रकार संसार के विविध घटक एकदूसरे के पूरक बनकर सृष्टि-संतुलन को यथाक्रम बनाए हुए हैं। यह अन्योन्याश्रय व्यवस्था सृष्टिकर्त्ता ने बहुत ही समझ-सोचकर बनाई और आशा रखी है कि सामान्य उपयोग के समय मामूली हेर-फेरों के अतिरिक्त किसी के द्वारा इसमें भारी उलट-पुलट नहीं की जाएगी। स्रष्टा की यह इच्छा और व्यवस्था जब तक बनी रहेगी, तब तक इस धरती का अद्‌भुत सौंदर्य और मनोरम क्रिया-कलाप भी जारी रहेगा।

उपरोक्त प्रतिपादन को हेकल ने 'इकॉलाजी' नाम दिया था। तब से लेकर अब तक इस ओर विज्ञानवेत्ताओं की रुचि घटी नहीं, वरन बढ़ी ही है और शोध क्षेत्र के इस नए पक्ष को एक स्वतंत्र शास्त्र ही मान लिया गया है। अब सृष्टि-संतुलन विज्ञान को इकॉलाजी शब्द के अंतर्गत लिया जाता है।

इकॉलाजी शोध प्रयासों द्वारा इस निष्कर्ष पर अधिकाधिक मजबूती के साथ पहुँचा जा रहा है कि हर वस्तु एकदूसरे के साथ घनिष्ठतापूर्वक जुड़ी हुई है। ऑक्सीजन, पानी, रोशनी, पेड़-पौधे, कीटाणु, पशु-पक्षी और मनुष्य यह सब एक ही धारा-प्रवाह की अलग-अलग दीखने वाली लहरें हैं जो वस्तुतः एकदूसरे के साथ विविध सूत्रों द्वारा आबद्ध हैं।

सृष्टि-संतुलन शास्त्र के अन्वेषक तीन ऐसे सिद्धांत निश्चित कर चुके हैं, जिनके आधार पर प्रकृतिगत सहयोग शृंखला इस जगत की व्यवस्था को धारण कर रही है। पहला सिद्धांत है—परस्परावलंबन (इन्टरडिपेंडेंस), दूसरा है—मर्यादा (लिमिटेशन) और तीसरा—सम्मिश्रता (कामप्लेक्सिटी)। यही तीनों भौतिक सिद्धांत अपने मिले-जुले क्रम से विश्व-प्रवाह को गतिशील कर रहे हैं। जिस प्रकार अध्यात्म जगत में सत चित् आनंद की, सत्यं शिवं सुंदरम् की, सत-रज-तम की, ईश्वर-जीव-प्रकृति की मान्यता है और माना जाता है कि इन्हीं चेतन तत्त्वों के आधार पर जीवधारियों की प्रवृत्ति, मनोवृत्ति की क्रम-व्यवस्था चलती है। ठीक इसी तरह संतुलन शास्त्री यह मानते हैं कि सृष्टिक्रम की सुव्यवस्था इंटरडिपेंडेंस, लिमिटेशन और कामप्लेक्सिटी पर निर्भर है।

परस्परावलंबन (इंटरडिपेन्डेंस) का सिद्धांत यह बताता है कि प्रकृति की हर चीज अन्य सब वस्तुओं के साथ जुड़ी-बँधी है। किसी भी जीव की सत्ता अन्य असंख्य जीवों के अस्तित्व पर निर्भर है। मानवी सत्ता स्वतंत्र नहीं है। यदि पेड़-पौधे ऑक्सीजन पैदा करना बंद कर दें तो वह बेमौत मर जाएगा। विशालकाय वृक्ष का जीवन उन छोटे कीटाणुओं पर निर्भर है जो सूखे पत्तों को विघटन कर उन्हें खाद के रूप में परिणत करते हैं और जड़ों के पोषण की व्यवस्था जुटाते हैं। जमीन में रहने वाले बैक्टीरिया किस प्रकार जड़ों को खुराक पहुँचाते हैं और चींटी, दीमक आदि छोटे कीड़े किस प्रकार जड़ों तक हवा, रोशनी और नमी पहुँचाने में अधिक परिश्रम करते हैं, इसे जाने बिना हम वृक्ष के जीवन आधार का सही मूल्यांकन कर ही नहीं सकते। वृक्ष अपने आप में स्वतंत्र

नहीं है, वह कोटि-कोटि जीवन घटकों के अनुग्रह पर आश्रित और जीवित है।

अफ्रीकी वन-जंतुओं की प्रमुख खाद्य आवश्यकता जो पौधा पूरी करता है, वह भी पराश्रयी पाया गया है। छोटे कीड़े कई तरह के बीज और खाद इधर से उधर लिए फिरते हैं। यह पौधा उसी से अपना जीवन ग्रहण करता है। कीड़ों की हरकतें बंद करने के उपरांत प्रयोगकर्त्ताओं ने देखा कि खाद, पानी की सुविधा देने के बाद पौधा उगने और बढ़ने की क्षमता खोता चला गया।

इसी प्रकार इंटरडिपेन्डेंस के सिद्धांत को कृषिजगत में भी प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। यह सर्वविदित है कि सुरंग बनाने वाले कीड़ों में केंचुआ बहुत प्रसिद्ध है। वह अपने एक सिरे से भूमि में प्रवेश करता है और जो कुछ मिलता है, उसे निगलकर दूसरे सिरे से मिट्टी के रूप में ही बाहर फेंकता जाता है। इस प्रकार वे अपना निर्वाह करते हैं और साथ ही नीचे की मिट्टी को ऊपर लाकर छोटे पेड़-पौधों की वृद्धि में सहायक होते हैं। कहते हैं कि इस प्रकार केंचुए किसी बगीचे की एक एकड़ भूमि की ४०० मन मिट्टी को एक वर्ष के भीतर नीचे से ऊपर ले आते हैं और भी कितने ही छोटे कीड़े इसी धरती में छेद करके नीचे की मिट्टी को ऊपर लाया करते हैं। परोपकार वे क्यों करते हैं एवं क्या यह किए बिना उनका कोई काम नहीं चल सकता था, इस प्रश्न का उत्तर मात्र यही है कि यह प्रकृति की संतुलन बनाए रखने वाली एक सहज व्यवस्था है।

इसी प्रकार द्विदल वनस्पतियाँ (लिग्विम क्राप्स) जैसे चना, मटर, अरहर, मूँगफली, मूँग, मोंठ आदि की जड़ों में एक प्रकार की गाँठें पाई जाती हैं, जिनमें गुलाबी रंग का एक विशेष रस (सीरप)

भरा होता है। उस रस में जीवाणु (बैक्टीरिया) होते हैं, जो एरिएशन क्रिया के द्वारा वायुमंडल से बहुत सा नाइट्रोजन एकत्रित करते रहते हैं। यह संचित नाइट्रोजन उस पौधे के ही काम आता हो, जिसकी वह जड़ है ऐसा नहीं। ऊपर की पौध काट ली जाती है, तब वह जड़ें मिट्‌टी में ही रह जाती हैं। गाँठों के रूप में सुरक्षित नाइट्रोजन अब मिट्‌टी में मिल जाती है और उसकी खोई हुई उर्वरता को फिर से जगा देती है।

प्रकृति का वनस्पति समुदाय अपनी विलक्षणता के माध्यम से अनेक शिक्षाएँ सहकारी, परोपकारी जीवन की देता है। घोर विपरीत परिस्थितियों में स्वावलंबी जीवन जीने वाले पौधे पैदा होते हैं, जहाँ पानी का अभाव रहता है। उनकी आत्मनिर्भरता यह सिद्ध करती है जीवन यदि अपनी पर उतर आए, तनकर खड़ा हो जाए तो विपरीत परिस्थितियों के आगे भी उसे पराजित नहीं होना पड़ता। संभवतः तपती भूमि को जलयुक्त करने का प्रकृति को यही माध्यम उपयुक्त होगा। अमेरिका के मरुस्थल में और दक्षिणी अफ्रीका में पाए जाने वाले कैक्टस इसी प्रकार के हैं। वे जल के अभाव में जीवित रहते हैं। रेतीली जमीन में हरे-भरे रहते हैं और सबको सुखा-जला डालने वाली गरमी के साथ अठखेलियाँ करते हुए अपनी हरियाली बनाए रहते हैं।

ऊबड़-खाबड़ जगहों पर भी उग आने वाला कटीला कैक्टस एक ऐसा पौधा है जो प्रायः मरुस्थलों अथवा वैसे स्थानों पर उगता है, जहाँ जलाभाव होता है। जलाभाव की स्थिति में यह स्वयं को कैसे जिंदा रखता है, वह उन परिस्थितियों का सामना कैसे करता है ? यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है। वस्तुतः इसके लिए प्रकृति ने

विशेष व्यवस्था जुटाई है, इनमें विशिष्ट अंग-अवयवों का निर्माण किया है। इन्हीं के माध्यम से यह अपनी फिजियोलॉजी को सामान्य ढंग से क्रियाशील रखता है।

कैक्टस (नागफनी) के कई प्रकार हैं एवं अन्यान्य पौधों में यह अत्यंत विशिष्ट होता है। भैषज विकासवादियों के अनुसार उसकी उत्पत्ति छोटे पर्णयुक्त वृक्षों से हुई है, जो सूखे की स्थिति में अपने पत्तों को गिराकर अपनी सुरक्षा स्वयं करते हैं। कालांतर में इनमें और अनुकूलन हुआ तथा मरुभूमियों के अनुकूल उनके सतह का क्षेत्रफल एवं आयतन के अनुपात में कमी आई। इसी के परिणामस्वरूप कैक्टस नलिकावत, ग्लोबाकार, बेलनाकार आदि विभिन्न राज्यों में देखे जाते हैं। इस प्रकार के रूपांतरित पौधों में एक विशिष्ट क्षमता होती है। वे अधिक से अधिक जल एकत्रित करने की सामर्थ्य रखते हैं और कम से कम वाष्पीकरण की क्रिया संपन्न करते हैं, जिससे अत्यल्प मात्रा में ही उसका जल वाष्पीभूत हो पाता है। कुछ-कुछ कैक्टसों में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तो रोचक अंग अभाव बनते देखे जाते हैं। ऐसा दो-एक कैक्टस एकोर्डियन बाजे का आकार ग्रहण कर लेता है। उनमें उसी के समान सिकुड़ने-फैलने वाली रीढ़ बन जाती है, जो आवश्यकतानुसार संपूर्ण तने को सिकोड़ और फैला सकते हैं।

भोजन बनाने की क्रिया इन तनों में संपन्न होती है। वाष्पीकरण की क्रिया को रोकने के लिए इनकी पत्तियाँ छोटे-छोटे काँटों में रूपांतरित हो जाती हैं। ये काँटे न सिर्फ जंतुओं से पौधे की रक्षा करते हैं, वरन कैक्टस में उनका विन्यास कुछ ऐसा होता है कि सूर्य के तीक्ष्ण आतप को न झेल पाने वाले व अपनी सुरक्षा स्वयं नहीं कर

पाने वाले पौधों की भी उसकी छत्रछाया में रक्षा हो जाती है। ये काँटे हवा की एक पतली परत को सदा कैद रखते हैं, जिससे ऊष्मा हस्तांतरण की प्रक्रिया मंद पड़ जाती है और पौधा सदैव ठंढा बना रहता है। भैषजविदों ने गणना के आधार पर बताया है कि ये काँटे पौधों को २० डिगरी फारेनहाइट तक ठंढा बनाए रखते हैं।

इन काँटों की एक और जिम्मेदारी होती है। नीचे की ओर ये कुछ झुके होते हैं। फलतः जब कभी वारिश होती है, तुषार अथवा कोहरे पड़ते हैं, तो ये काँटे अधिकांश जल बूँदों को पौधे की जड़ की ओर ही प्रवृत्त करते हैं ताकि पौधे को प्राणशक्ति मिलती रहे। इन पौधों की वृद्धि दर न्यून होती है। यह भी परिस्थिति एवं वास-स्थल के अनुरूप अनुकूलन का एक विलक्षण उदाहरण है।

एक और प्रकार के ऐंडोनियम वृक्षों में पानी भरा पाया जाता है और इसी कारण यह कई वर्षों तक सूखा पड़ने पर भी हरे ही बने रहते हैं। दक्षिण अमेरिका के ब्राजील और पेरु के जंगलों में एक ऐसा वृक्ष होता है, जिसके तने से दूध जैसा तरल पदार्थ भी निकलता है जो मीठा भी होता है और स्वादिष्ट भी। वन वाले इसे देवताओं की कामधेनु भी समझते हैं और बड़े चाव से उसका दूध पीते हैं। मनुष्यों व वृक्षों के मध्य निःस्वार्थ आदान-प्रदान का यह जीता-जागता उदाहरण है।

वृक्षों में परोपकार, सहकार की भावना का आदर्श चीकू के पेड़ में देखने को मिलता है। लोग कहते हैं कि अकेला हो तो शक्ति का मनमाना उपभोग करने को मिलता है पर उससे मनुष्य की प्रसन्नता नहीं बढ़ सकती। एकाकी मनुष्य न किसी से प्रेम कर सकता है और न उदारता व्यक्त कर सकता है। न्याय, नीति, सेवा

और सदाचार के फलितार्थ भी अकेले में नहीं भोगे जा सकते, यह बात मनुष्य को चीकू से सीखनी पड़ेगी। अकेला चीकू फल तो देता है पर कम, लेकिन जब उसके बहुत से साथी भी आ जाते हैं तो यद्यपि उसकी खुराक से साझीदार बढ़ जाते हैं तो भी वह अधिक फल देने लगता है। उसकी आत्मिक प्रसन्नता बढ़ती, सौजन्य और सौहार्द्र को आधार मिलता है, तब चीकू अधिक फल देने लगता है।

इसी प्रकार नारियल की छाया में ही इलायची फलती-फूलती है। छोटों को बड़े खा जाते हैं, यह सिद्धांत गलत है। सच्ची बात यह है कि छोटों को बड़ों से संरक्षण, प्रेम, स्नेह और उदारता मिलनी चाहिए।

यह क्रिया परस्पर आदान-प्रदान द्वारा भी संभव है। धान के खेतों में चना बहुत अच्छा उगता है, क्योंकि धान अपना वह अंश छोड़ जाता है जो चने के लिए उपयोगी होता है, बदले में चना भी वैसा ही करता है, जिससे दोबारा उस खेत में धान की फसल अच्छी होती है। दोनों एकदूसरे की कृतज्ञता निभाते हैं और मनुष्य से कहते हैं कि और अधिक नहीं तो जितना दूसरों से ग्रहण करता है, अपनी योग्यताओं, विशेषताओं के अनुसार कम से कम उतना तो औरों के विकास में योगदान दिया ही जाना चाहिए। अरहर और ज्वार साथ-साथ बोए जाते हैं, दोनों दो जाति के पौधे हैं पर परस्पर सहयोग से दोनों फलते-फूलते रहते हैं। अरहर नाइट्रोजन खींचती है और उसका थोड़ा सा अंश अपने काम में लेकर ज्वार को दे देती है और इस तरह दोनों ही विकसित होते रहते हैं।

वनस्पति जगत की समग्र व्यवस्था बड़ी निराली है। अपने आप ही इनका समुदाय कैसे विकसित होता चला जाता है, यह भी

उस सत्ता का खेल है। फलों में गूदा भरा होता है और गूदे के भीतर बीज रहते हैं। यह बीज एक जगह इकट्ठे नहीं रखे रहते वरन दूर-दूर फासले पर रहते हैं। पूरे वृक्ष पर एक ही फल नहीं लगता वरन उनकी बहुत बड़ी संख्या होती है। प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था क्यों की, उस पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि प्रगति के आधार जिस प्रकार मनुष्यों के लिए बनाए गए हैं वैसे ही वृक्षों के लिए भी विनिर्मित किए गए हैं।

गूदे का उद्देश्य है बीज को पोषण देना, परिपुष्ट करना—प्रौढ़ावस्था तक पहुँचाना। माता के गर्भ में जिस प्रकार भ्रूण पलता है उसी प्रकार फल के उदर में गूदे के मध्य बैठा हुआ बीज धीरे-धीरे सबल और समर्थ बनता रहता है। मानव जीवन के अधिकतर क्रिया-कलाप भौतिक उपार्जन के लिए होते हैं। इससे सुविधा-सामग्री तो मिलती ही है, साथ ही वे विशेषताएँ-विभूतियाँ भी परिपक्व होती हैं, जिनके आधार पर प्रत्येक क्षेत्र में सफलताएँ पाई जा सकती हैं—विकसित व्यक्तित्व को ही परिपुष्ट सत्ता कहते हैं।

एक वृक्ष अनेक फल और प्रत्येक फल में अनेक बीज इसलिए उत्पन्न करता है कि उसकी सत्ता को अधिकाधिक विस्तार करने का अवसर मिले। उसे सीमित दायरे में संकीर्णता की परिधि में ही आबद्ध रहकर अविकसित कहलाने का कलंक न सहना पड़े। आत्मविस्तार बिना न तो आत्मसंतोष मिल सकता है और न आत्मगौरव।

गूदे में पककर विकसित हुए बीज सुदूर क्षेत्रों तक फैलें इसके लिए प्रकृति ने अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ की हैं। प्राणियों द्वारा उनका खाया जाना और मल विसर्जन के साथ उनका दूर-दूर जा

पहुँचना ही प्रत्यक्ष ही है। कई बीज फेंके या संग्रह करने पर किसी न किसी प्रकार वंशवृद्धि करने का अवसर पाने में सफल हो जाते हैं।

प्रकृति भी इस दशा में भारी योगदान करती है और तरह-तरह के ऐसे साधन जुटाती है जिससे वह उत्पन्न हुई बीज संपदा किसी एक स्थान तक सीमित होकर न रह जाए वरन उसे सुदूर क्षेत्रों में वितरित होने का अवसर मिले।

हवा असंख्य बीजों को अपने साथ उड़ाकर एक स्थान से दूसरे स्थानों तक पहुँचाती है। इस स्तर से हलके बीजों की वनस्पति जगत में कमी नहीं है। 'कुनैन' जिस सिनकोना पौधे से बनती है, उसके बीज इतने हलके होते हैं कि एक ओंस में ७० हजार तोले आ सकें। आर्किडो के बीज इससे भी हलके होते हैं जिनकी बनावट भी ऐसी होती है जैसे पक्षी के परों की हलकापन और बनावट की विशेषता दोनों के कारण हवा उन्हें आसानी से उड़ा ले जाती है और कहीं से कहीं ले जाकर पटकती है। कुछ बड़े और भारी बीजों में सूर्यमुखी, डोंडलिओन, सौक्स, वेलुकन, आक, सेंमर, सरकंडा आदि के बीज ऐसे हैं जो पैरासूट की तरह बने होते हैं। वे हवा का तनिक सा सहारा पाकर लंबी उड़ान उड़ने लगते हैं। नीचे उतरने और ऊपर चढ़ने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। आक के बीज में जो रूई चिपकी होती है, उससे उनका उड़ना कितना सुहावना लगता है। ब्लड फ्लावर, करची व्यूमोनशिया, चाटियम जैसे पौधों के बीज भी रोंएदार होते हैं, जिनके कारण उनकी वायुयात्रा बड़ी सरल बन जाती है। अरलू, पराय, सहजन, चीड़ के बीजों की बनावट भी पक्षियों के परों जैसी होती है। इच्छा से नहीं उड़ पाते पर हवा उनकी उड़ने की सारी व्यवस्था स्वयं जुटा देती है। कुछ तो पूरे फल ही उड़नशील होते हैं,

वे अपने बीज परिवार को लेकर क्षेत्र विस्तार प्रयोजन पूरा करने के लिए हवा की सहायता से यात्रा करने पर उतर पड़ते हैं। ऐसे उड़ाकू फलों में होलोक, मधुलता, जमीकंद, फ्रेक्सीनस, होपियानेपल, डिपटीरोकारपस, साल आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें से एथेलस की बनावट हवाई जहाज से बिलकुल मिलती-जुलती है, उसे देखकर हवाई जहाज बने या हवाई जहाज देखकर प्रकृति ने इन्हें बनाया है। आँधियाँ फल, तिनके ही नहीं हलके बीजों को भी अपने साथ उड़ा ले जाती हैं और कहीं से कहीं उन्हें जा पटकती हैं। जड़ी-बूटियाँ प्रायः इसी प्रकार यहाँ से वहाँ जा पहुँचती हैं।

कई फल ऐसे हैं जिनके छिलके बहुत कड़े होते हैं। पक जाने और सूख जाने पर भी वे बीजों को बाहर नहीं निकलने देते। इस कठोर नियंत्रण की उग्र प्रतिक्रिया होती है। बीज विद्रोह कर बैठते हैं और उस भीतरी तनाव से छिलका एक विस्फोट की तरह फटता है और बीज उछलकर बाहर निकल जाते हैं। गुलमेंहदी, बुडसेरिल, नाइटजेसमिन, अरंड, कालमेघ, वज्रदंती फ्लाक्स, कन्वनलता आदि फलों में अकसर फटने और बीज उछलने की प्रक्रिया देखने को मिलती है।

पानी में उगने वाली वनस्पतियों के बीजों की लहरें एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाती हैं। यह बीज हलके और हवा भरे स्पंज की तरह होते हैं, जिससे वे लहरों पर आसानी से तैरते रह सकें। नदियों और समुद्रों के तटों पर उगे हुए पेड़-पौधे भी अपने बीज, जल को समर्पित करके उन्हें अन्यत्र चले जाने की खुशी-खुशी छूट देते हैं। मनुष्य ही ऐसा है जो स्वजनों को अन्यत्र उपयोगी स्थानों पर जाने से रोककर घर की चहारदीवारी में ही बंद रखने के लिए

मोहग्रस्त बना रहता है। कमलगट्टे अकसर पानी में तैरते हुए ही कहीं से कहीं जा उगते हैं। नारियल के फली का पानी में गिरना और सहस्त्रों मील जनशून्य द्वीपों में जा उगना इसी प्रकार संभव हुआ है। प्रकृति की एक से अनेक में विकसित-विस्तृत होने की यह प्रक्रिया स्वयं में निराली है एवं एक नियामक समझ-बूझ वाली सत्ता के अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

संतुलन शास्त्र का दूसरा नियम मर्यादा—लिमिटेशन यह सिद्ध करता है कि हर प्राणी और हर पदार्थ की एक मर्यादा है। जब वह उससे आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है तभी रोक दिया जाता है। वंश-वृद्धि की क्षमता प्राणियों में निस्संदेह अद्‌भुत है, पर इससे भी तेज कुल्हाड़ी इस अभिवर्द्धन को नियंत्रित करने के लिए कोई अदृश्य सत्ता सहज ही चलाती रहती है। प्राणी सृजन कितना ही क्यों न करें पर दौड़ में मृत्यु को नहीं जीत सकता है। जैसे ही जन्मदर की दौड़ बढ़ती है वैसे ही मृत्यु की वाघिन उसे दबोचकर रख देती है। प्राणियों का शरीर, पेड़ों का विस्तार एक सीमा पर जाकर रुक जाता है। पौधे एक सीमा तक ही सूर्य किरणों को सोखते हैं और निर्धारित मात्रा में ही ऑक्सीजन पैदा करते हैं। उपभोक्ताओं की संख्या और उपयोग की मात्रा जब तक उत्पादन के अनुरूप रहती है, तब तक ढर्रा ठीक तरह चलता रहता है, पर जब उत्पादन से उपभोग की तैयारी की जाती है तो विनाश का देवता उन उपभोक्ताओं के गले मरोड़ देता है। संतुलन जब तक रहेगा तब तक शांति रहेगी पर जहाँ भी जिसने भी मर्यादा का उल्लंघन करने वाला सिर उठाया वहीं कोई छिपा हुआ भैरव वेताल उठे हुए सिर को पत्थर मारकर कुचल देता है। आततायी और उच्छृंखल मनुष्यों के अहंकार को किसी न

किसी कोने से उभर पड़ने वाली प्रतिक्रिया का शिकार बनना पड़ता है। पेट की आवश्यकता से अधिक आहार करने वाले अपच और उदर शूल का कष्ट सहते हैं। प्रकृति उलटी और दस्त कराकर उस अपहरण को वापस करने के लिए बाध्य करती है। यह एक उदाहरण भर है, पर प्रमाणित करता है कि नियमों से ऊपर मानव नहीं है।

तीसरा नियम सम्मिश्रता—कामप्लेक्सिटी का सिद्धांत बताता है कि जिनके साथ हमारा प्रत्यक्ष संबंध नहीं दीखता उनके साथ भी दूर का संबंध रहता है और घटनाक्रम प्रकारांतर से परोक्ष रूप में उन्हें भी प्रभावित करता है जो उससे सीधा संबंध नहीं समझते। विश्व में कहीं भी घटित होने वाले घटनाक्रम को हम यह कहकर उपेक्षित नहीं कर सकते कि इससे हमारा क्या संबंध है? प्रत्यक्ष न सही परोक्ष रूप से हम कहीं भी किसी भी स्तर की घटना से अवश्य प्रभावित होते हैं। पर्यावरण को ही लें तो हमें स्पष्ट लगने लगेगा कि उस पर किसी अकेले का वश नहीं। वह सभी को समान रूप से प्रभावित करता है। इकॉलाजी के ये सिद्धांत प्रमाणित करते हैं कि सब परस्पर अन्योन्याश्रित रूप से संबंधित हैं।

प्रसिद्ध मनोविशेषज्ञ वेरी कैमनर कहते हैं कि देश और जाति का अंतर कृत्रिम है। मनुष्य-मनुष्य के बीच की दीवार निरर्थक है। इतना ही नहीं प्राणधारियों और जड़ समझे जाने वाले पदार्थों को एकदूसरे से स्वतंत्र समझना भूल है। हम सब एक ऐसी नाव पर सवार हैं जिसके डूबने-उतरने का परिणाम सभी को समान रूप से भुगतना पड़ेगा। राकफेलर यूनिवर्सिटी (न्यूयार्क) के पैथोलोजी एंड माइक्रोबायोलॉजी के प्राध्यापकों का कथन है कि कास्मिक साइकल्स के थपेड़ों से हम इधर-उधर गिरते-पड़ते चल रहे हैं। पुरुषार्थ की

अपनी महत्ता है, पर ब्रह्मांडीय हलचलें हमारी अपनी गतिविधियों को कम प्रभावित नहीं करतीं।

निखिल ब्रह्मांड में गतिशील ग्रह-उपग्रह भी आकर्षण-विकर्षण की धाराओं से परस्पर बँधे जरूर हैं और अपनी धुरी तथा कक्षा की भ्रमणशीलता भी परस्पर संबंधों के आधार पर स्थिर किए हुए हैं। फिर भी कोई किसी से उत्पन्न नहीं हुआ। सभी ग्रह-उपग्रहों का जन्म स्वतंत्र रूप से हुआ है और उनका मूल कारण आदि पदार्थ हिरण्यगर्भ का विस्फोट ही था। इस प्रकार सभी ग्रह एकदूसरे के मित्र पड़ोसी हैं, सहयोगी हैं। यही बात पृथ्वी और चंद्रमा के संबंध में भी लागू होती है।

वस्तुतः ब्रह्मांड के ग्रह-नक्षत्र और उपग्रह परस्पर मिल-जुलकर ही इस अनंत अंतरिक्ष में अपनी सत्ता बनाए हुए हैं। यदि उनका विघटन हो जाए—एकाकी रहने की स्थिति आ जाए तो पारस्परिक आदान-प्रदान के आधार पर खड़ा हुआ संसार का सारा ढाँचा ही चरमरा जाए। फिर ग्रह-नक्षत्रों की वह स्थिति न रहेगी जो आज है। एकाकी भटकने वाले उल्कापिंड अपनी सीमित शक्ति, सीमित स्थिति एवं सीमित कक्षा में किसी प्रकार जीवित रह सकें तो भी उनकी सारी विशेषता तो नष्ट ही हो जाएगी। वे मृतक पिंड मात्र बनकर रह जाएँगे। पारस्परिक आकर्षण की सघन शृंखला में बँधकर ही वे अपनी धुरी और अपनी कक्षा में भ्रमण कर रहे हैं। उनकी विशेषताओं का विनिमय ही उनमें हलचलें बनाए हुए है, अन्यथा वे हर दृष्टि से स्तब्ध हो जाएँगे। उनका सारा पदार्थ अनंत अंतरिक्ष में धूलि बनकर बिखर जाएगा।

सूर्य जीवन का स्रोत और प्राणीय चेतना का आधार माना गया है। वह पृथ्वी से ९ करोड़ मील दूर है, उसकी सतह का तापमान

१२००० डिगरी फारेनहाइट का है। पहले तो यही बात स्पष्ट है कि यदि इस दूरी को थोड़ा भी कम कर दिया जाता तो पृथ्वी में इतनी भयंकर ऊर्जा होती कि न तो यह वृक्ष-वनस्पति होती और न प्राणि-जगत जीवन के लिए जितने ताप की आवश्यकता है उतना, इतनी ही दूरी में संतुलित रह सकता। यही नहीं कुछ ऐसी किरणें भी हैं जो इतनी दूरी पर भी विनाश कर सकती थीं। उनसे रक्षा के लिए वायुमंडल (आइनोस्फियर) के रक्षा कवच में पृथ्वी को बंद कर दिया गया। बात इतने से भी बनती नहीं थी, यदि पृथ्वी को स्थिर रखा गया होता, तब भी यहाँ इतना अधिक ताप आ जाता कि लोग भाड़ की गरमी में भुन जाने वाले चने की तरह जलकर फुटका हो जाते। इस दृष्टि से पृथ्वी को जान-बूझकर उसकी अपनी ही कक्षा में प्रति घंटे एक हजार मील की गति से घुमा दिया गया जिससे मरुत देव गतिमान हुए और उनने ताप एवं शीत का नियंत्रण प्रारंभ कर दिया। कदाचित इस गति को १००० की अपेक्षा १०० मील प्रति घंटे कर दिया गया होता तो इसका अर्थ यह होता कि पृथ्वी के दिन और रात १२० घंटे के होने लगते। १२ घंटे की गरमी और सक्रियता से थककर चकनाचूर हो जाने वाले मनुष्य को दस गुने बड़े दिन को काटना ही कठिन पड़ जाता, ऊपर से मध्याह्न की किरणें इतनी वीभत्स अग्निवर्षा करतीं कि मिट्टी में भी आग लग जाती और वह स्वयं भी जलकर या तो तरल लौ की शक्ल में हो जाती या भाप बनकर उड़ जाती। रात में यही स्थिति ठीक उलटी अर्थात हिमप्रलय जैसी होती। उस स्थिति में जीवन की कल्पना करना ही कठिन होता है। जो बात सूर्य की दूरी से ऋतु नियंत्रण पर लागू होती है, वही चंद्रमा की दूरी पर, समुद्र के नियंत्रण पर। इस दूरी में थोड़ा भी अंतर पड़ने से चंद्रमा ही पृथ्वी को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता।

उस बड़े इंजीनियर का रेखागणित ज्ञान तो उस समय आश्चर्य-चकित कर देता है, जब पता चलता है कि पृथ्वी अपने ही कक्ष में २३ अंश झुकी हुई है। यदि ऐसा न होता तो महासागरों का सारा जल वाष्प विभक्त होकर कुछ उत्तरी ध्रुव में भाग जाता कुछ दक्षिणी ध्रुव में। फिर न यह सुहाने बादल आते, न रिमझिम वर्षा होती, न झरनों की झर-झर, न नदियों की कल-कल और न पौधों का बढ़ना, फूलना-फलना, सारी शोभा विनाश के गर्भ में डूब जाती।

पृथ्वी कुल दस फुट मोटी होती तो जीवजगत के लिए यहाँ जीना मुश्किल हो जाता, साँस लेना दूभर हो जाता एवं चारों ओर श्मशान सी वीरानगी नजर आती। यह महज संयोग नहीं, एक योजनाबद्ध रूप से विनिर्मित ग्रह है जिस पर जीवधारी चैन से रह सकें, यह व्यवस्था विधाता ने बनाई है।

सूर्य से उपलब्ध होने वाली ऊर्जा जिस रूप में पृथ्वी पर आती है, वह भी अकेले सूर्य की संपत्ति नहीं है। उसके साथ अन्य ग्रह-तारकों का अनुदान भी मिला-जुला होता है। रेडियो तरंगों का अति महत्त्वपूर्ण भाग तो सूर्य की अपेक्षा अन्य ग्रहों से ही अधिक आता है। पृथ्वी पर विद्यमान रेडियो शक्ति का स्रोत तलाश करने पर उसका उद्गम अति दूरदर्शी क्वासर तारकों में और अति निकटवर्ती पल्सार्स पिंडों से आता है। यदि उनका अनुदान बंद हो जाए तो फिर यहाँ सब कुछ सुनसान ही दिखाई पड़ने लगे और वह अन्न, जल, वायु भी उपलब्ध न हो जिसे हम तुच्छ और स्वल्प श्रमसाध्य समझते हैं। ये वस्तुएँ सस्ती कितनी ही हों पर उनकी उत्पादक क्षमता उन दूरवर्ती अति कृपालु पिंडों की उदारता पर निर्भर है, जिसके बारे में हम कुछ भी नहीं जानते।

इतना बड़ा संसार एक निश्चित व्यवस्था पर ठीक-ठिकाने चल रहा है, सूरज प्रतिदिन ठीक समय से निकल आता है, चंद्रमा की क्या औकात जो अपनी माहबारी ड्यूटी में रत्ती भर फरक डाल दे, ऋतुएँ अपना समय आते ही आती हैं और लौट जाती हैं, आम का बौर वसंत में ही आता है, टेसू गरमी में ही फूलते हैं, वर्षा तभी होती है जब समुद्र से मानसून बनता है। सारी प्रकृति, संपूर्ण संसार ठीक व्यवस्था से चल रहा है, जो जरा सा इधर-उधर हुआ कि उसने मार खाई। अपनी कक्षा से जरा डाँवाडोल हुए कि एक तारे को दूसरा खा गया। जीवनक्रम में थोड़ी भूल हुई कि रोग-शोक, बीमारी और अकाल मृत्यु ने झपट्टा मारा। इतने बड़े संसार का नियामक परमात्मा सचमुच बड़ा शक्तिशाली है। सत्तावान न होता तो कौन उसकी बात सुनता। दंड देने में उसने चूक की होती तो अनियमितता, अस्तव्यस्तता और अव्यवस्था ही रही होती। उसकी दृष्टि से कोई भी छुपकर पाप और अत्याचार नहीं कर सकता। बड़ा कठोर है वह। दुष्ट को भी क्षमा नहीं करता। इसलिए वेद ने आगाह किया है—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहु कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—ऋ.वेद १०/१२१/४

हे मनुष्यो! बरफ से आच्छादित पहाड़, नदियाँ, समुद्र जिसकी महिमा का गुणगान करते हैं। दिशाएँ जिसकी भुजाएँ हैं हम उस विराट विश्वपुरुष परमात्मा को कभी न भूलें।

वेद की यह वाणी प्रकारांतर से विराट के रूप में व्यवस्था संतुलन बिठाने वाले परम पिता का अभिनंदन है। उसके गुणों को हम जीवन में उतारें। सहयोग-सहकार के इकॉलाजी के सिद्धांतों पर

चलकर प्रगतिपथ पर बढ़ते रहें, यही प्रेरणा इन उदाहरणों व आर्षवचनों से निकलती है।

वस्तुतः जिस चेतना को विराट विश्वब्रह्मांडव्यापी माना जाता है, जीव उसी का एक अंश, एक घटक है। जीवात्मा का परमात्मा का स्वरूप क्या है, आत्मा, परमात्मा का प्रतीक अंश किस प्रकार है? इन प्रश्नों का समाधान करते हुए केनोपनिषद् में ऋषि ने एक बहुत मार्मिक बात कही है। जिज्ञासु पूछता है—

केनेषितं पतितं प्रेषितं मनः !
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः?
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति?
चक्षुः श्रोत्रं कउदेवोयुनक्ति॥

मन किसकी प्रेरणा से दौड़ाया हुआ दौड़ता है? किसके द्वारा प्रथम प्राण-संचार संभव हुआ? किसकी चाही हुई वाणी मुख बोलता है? कौन देवता देखने और सुनने की व्यवस्था बनाता है?

मन अपने आप कहाँ दौड़ता है? आंतरिक आकांक्षाएँ ही उसे जो दिशा देती हैं, उधर ही वह चलता है, दौड़ता है और वापस लौट आता है। यदि मन स्वतंत्र चिंतन में समर्थ होता तो उसकी दिशा एक ही रहती। सबका सोचना एक ही तरह होता, सदा-सर्वदा एक ही तरह का चिंतन बन पड़ता, पर लगता है कि पतंग की तरह मन को उड़ाने वाला भी कोई और है, उसकी आकांक्षा बदलते ही मस्तिष्क की सारी चिंतन प्रक्रिया उलट जाती है। मन एक पराधीन उपकरण है, वह किसी दिशा में स्वेच्छापूर्वक नहीं दौड़ सकता। उसको दौड़ाने वाली सत्ता जिस स्थिति में रह रही होगी, चिंतन की धारा उसी दिशा में बहेगी। मन को दिशा देने वाली मूल सत्ता का नाम 'आत्मा' है।

दूसरे प्रश्न में जिज्ञासा है कि माता के गर्भ में पहुँचने पर प्रथम प्राण कौन स्थापित करता है ? उसमें जीवन-संचार के रूप में हलचलें कैसे उत्पन्न होती हैं ? रक्त-मांस तो जड़ है। जड़ में चेतना कैसे उत्पन्न हुई ? यहाँ भी उत्तर वही है—यह आत्मा का कर्तृत्व है, भ्रूण अपने आप में कुछ भी कर सकने में समर्थ नहीं। माता-पिता की इच्छानुसार संतान कहाँ होती है ? पुत्र चाहने पर भी कन्या गर्भ में आ जाती है। जिस आकृति-प्रकृति की अपेक्षा की, उससे भिन्न प्रकार की संतान जन्म लेती है। इसमें माता-पिता का प्रयास भी कहाँ सफल हुआ ? तब भ्रूण को चेतना प्रदान करने का कार्य कौन करता है ? उपनिषद्कार इस प्रश्न के उत्तर में आत्मा के अस्तित्व को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करता है।

मृतशरीर में प्राण-संचार न रहने से उसके भीतर वायु भरी होने पर भी साँस को बाहर निकालने की सामर्थ्य नहीं होती। श्वास-प्रश्वास प्रणाली यथावत रहने पर भी प्राण-स्पंदन नहीं होता। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान प्राणों द्वारा शरीर और मन के विभिन्न क्रिया-कलाप संचालित होते हैं, पर महाप्राण के न रहने पर शरीर में उनका स्थान और कार्य सुनिश्चित होते हुए भी सब कुछ निश्चित हो जाता है। अंगों की स्थिति यथावत रहते हुए भी जिस कारण मृतशरीर जड़वत निश्चेष्ट हो जाता है, वह महाप्राण का प्रेरणा क्रम रुक जाना ही है। इस सूत्रसंचालक महाप्राण को ही 'आत्मा' कहते हैं।

तीसरा प्रश्न उत्पन्न होता है कि किसकी चाही हुई वाणी मनुष्य बोलते हैं। निस्संदेह यह कार्य मुख का नहीं है। शरीर और इंद्रियों का भी नहीं है। यदि ऐसा होता तो भूखा होने पर पात्र-कुपात्र के आगे समय-कुसमय का ध्यान रखे बिना भोजन याचना की

जाती। कामुक आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी शील-संकोच को आड़े न आने दिया गया होता, पर शरीर और मन की आवश्यकताओं को बहुधा रोककर रखा जाता है। अंतःकरण क्षुब्ध होने पर मुख से कटु वचन निकलते हैं और उत्कृष्ट स्थिति में अमृतोपम वाणी निस्सृत होती है। यदि वाणी स्वतंत्र होती तो वह तोता की तरह अभ्यस्त शब्दों का ही उच्चारण करती रहती। वाणी से विष और अमृत, ज्ञान और अज्ञान निस्सृत करने वाली अंतश्चेतना उससे पृथक और स्वतंत्र है—उसी का नाम 'आत्मा' है।

आँखें किसकी प्रेरणा से देखती हैं, कान किसकी इच्छानुसार सुनते हैं? यह प्रश्न उपस्थित करते हुए यह देखा जा सकता है कि क्या आँखों में देखने की या कानों में सुनने की स्वतंत्र शक्ति है। निश्चित रूप से वह नहीं ही है। यदि होती तो मृतक या मूर्च्छित स्थिति में भी आँखें देखतीं और कान सुनते। ध्यानमग्न होने की स्थिति में आँखों के आगे से गुजरने वाले दृश्य भी परिलक्षित नहीं होते और कानों के समीप ही बात-चीत होते रहने पर भी कुछ सुना नहीं जाता। अनेक दृश्यों में से आँखें अपने प्रिय विषय पर ही टिकती हैं। कई तरह की आवाजें होते रहने पर भी कान उन्हीं पर केंद्रित होते हैं जो अपने को प्रिय है। इन ज्ञान प्रधान कान और चक्षु इंद्रियों में अपनी निज की क्रियाशीलता नहीं है। जिसकी प्रेरणा से वे सक्रिय रहते हैं, वह सत्ता आत्मा की ही है जो उस विराट सत्ता जिसे हम परब्रह्म कहते हैं, द्वारा संचालित है।

परब्रह्म वस्तुतः ऐसा कोई विचारणीय पदार्थ नहीं जिसे मन द्वारा ग्रहण किया जा सके। वह तो ऐसा तथ्य है जिसके आधार पर मन को मनन शक्ति प्राप्त होती है। उस परमतत्त्व की सामर्थ्य से ही

मन को मनन कर सकने की क्षमता प्राप्त होती है। वह परब्रह्म ही नेत्रों को देखने की, कानों को सुनने की, प्राणों को जीने की शक्ति प्रदान करता है। परब्रह्म ऐसा नहीं है जिसे इंद्रियों से देखना और मन से समझना संभव हो सके। वह सर्वांतर्यामी और निरपेक्ष है। वह कोई देवता नहीं है और न वैसा है जिसकी परब्रह्म नाम से उपासना की जाती है। परब्रह्म को यदि समझना हो तो एक सुव्यवस्था, सुसंचालन करने वाली समग्र सत्ता की उसे उपमा दी जा सकती है जो व्यष्टि, समष्टि सबमें संव्याप्त है। सहकार परस्परावलंबन के प्रकृति जगत के उदाहरण यही प्रमाणित करते हैं।

यह भलीभाँति समझ लिया जाना चाहिए कि असंख्य आत्माओं में जगमगाने वाली चेतना की ज्योति का केंद्र एक ही है। पानी की प्रत्येक लहर पर एक अलग सूर्य चमकता है, पर वस्तुतः वह एक ही सूर्य की अनेक प्रतिच्छवियाँ हैं। समुद्र की हर लहर का अस्तित्व भिन्न दिखाई पड़ने पर भी वस्तुतः वे विशाल सागर की हिलोरें ही हैं। इस समस्त विश्व में केवल एक ही समष्टि आत्मा है, जिसे परमात्मा के नाम से पुकारते हैं। सबमें वही प्रतिभासित हो रहा है। माला की मणियों के मध्य पिरोये हुए धागे की तरह पृथक दीखने वाले प्राणियों को परस्पर एकसूत्र में बाँधे हुए है। भिन्नता में एकता की, परस्पर समरसता एवं एकात्मता की, सहकारिता आदान-प्रदान की प्रेरणाओं को जीवन में उतारा जा सके तो उस विराट की इकाई के रूप में बने रहकर उन्नति के पथ पर बढ़ चलना संभव है। यह एक विज्ञानसम्मत तथ्य है, इसे इकॉलाजी के उदाहरणों द्वारा भली प्रकार समझा जा सकता है।

❐

पारस्परिक सहयोग से गतिशील जीवनचक्र

इस संसार में कोई भी सर्वथा स्वतंत्र नहीं है। परस्परावलंबन पर, सहयोग पर ही प्रगतिक्रम निर्भर है। विज्ञान की एकोएक विधाएँ, शाखाएँ एकदूसरे से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं। यदि इन्हें अलग-अलग कर दिया जाए तो कोई भी सर्वांगपूर्ण प्रगति नहीं कर पाएगा। यह विधि का विधान है, स्रष्टा की शाश्वत नियम-व्यवस्था है एवं अस्तित्व हेतु एक अनिवार्य शर्त है कि ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं में परस्पर उचित तालमेल हो। सूर्य की किरणें सप्तवर्णी होती हैं, किंतु प्रकाश एक सफेद रंग के रूप में ही देखा जाता है। लहरें अनेक होती हैं, पर समुद्र एक ही होता है। इसीलिए विद्वानों ने कहा है कि विज्ञान के माध्यम से समग्र प्रगति की दिशा में अग्रसर होने के लिए समन्वयात्मक अध्ययन अनिवार्य है। जहाँ पर भी उन्हें अलग-अलग विभाजित कर प्रयोग किए गए हैं, हानिकारक परिणाम ही सामने आए हैं।

प्रगति की अंधी दौड़ में बीसवीं सदी को तेजी से इक्कीसवीं सदी में पहुँचाने को आतुर विज्ञान ने पिछले दिनों अनेकों ऐसे अदूरदर्शितापूर्ण कदम उठाए हैं जो इकॉलाजी के शाश्वत नियमों की स्पष्ट अवहेलना करते हैं। इसका दुष्परिणाम भी उन्हें भुगतना पड़ा है। कीटनाशक रसायनों का कृत्रिम खाद के साथ प्रयोग एक ऐसा ही घातक कदम रहा है। फसलों को कीड़े खाते हैं, यह तथ्य सच हो सकता है पर वे कीड़े, जीवाणु, कमेन्सल्स भी मिट्टी-फसल में विद्यमान होते हैं जो ऐसा न होने देने एवं फसल के विकास हेतु

एड़ी-चोटी का जोर लगा देते हैं। मानव द्वारा विनिर्मित कृत्रिम रसायन इन साथी-सहयोगियों को तो नष्ट करते ही हैं, पर्यावरण को भी दूषित कर मानव के लिए संकट खड़ा कर देते हैं। यह प्रकृति के नियमों के उल्लंघन की स्पष्ट फलीभूत होने वाली प्रतिक्रिया है।

ऊर्जा संकट के समाधान हेतु वैज्ञानिकों ने अनेकों प्रयास किए हैं। ऐसा ही एक पुरुषार्थ आस्वान बाँध नील नदी पर बाँधने के रूप में मिस्र में हुआ है। इससे नील नदी के तटवर्ती क्षेत्रों को प्राकृतिक खाद पहुँचने के लाभ मिलने बंद हो गए हैं, फलस्वरूप उस क्षेत्र की उर्वरा शक्ति को भारी क्षति पहुँची है। इसी प्रकार भारत में एवं अफ्रीका महाद्वीप के जाम्बिया और जिंबाब्वे देशों में पिछले दिनों कई बाँध बने हैं, इनके कारण अनपेक्षित समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं और वे बाँधों से मिलने वाले लाभ की तुलना में कम नहीं, वरन अधिक ही हानिकारक एवं जटिल सिद्ध हुई हैं। समुद्रों के मध्य जहाँ-तहाँ बिखरे हुए छोटे टापुओं पर चालू की गई उत्साहवर्द्धक विकास योजनाओं का भी बुरा असर पड़ा है और उन प्रयासों को घाटे का सौदा माना गया है। यह स्पष्ट समझा जाना चाहिए कि सहयोग-सहकार-मर्यादापालन जैसे नियमों को मनुष्य जीवन के हर क्षेत्र में क्रियाशील बनाए रखकर ही मानवीय प्रगति, सुख-शांति और सुव्यवस्था की कल्पना की जा सकती है। नियम व्यवस्थाओं की चादर छोटी है, किंतु मनुष्य की महत्त्वाकांक्षाएँ विशालकाय। लालसाएँ सुरसा की तरह बढ़ती जाएँ और ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र उसी के समर्थन में जुट पड़ें तो इस खींचा-तानी में उस चादर का फटना और मनुष्यों का शीत में ठिठुरना, प्रकृति की निष्ठुर नियम व्यवस्था में दबोचे जाना स्वाभाविक है। चाहे वह वातावरण जल,

वायु और पृथ्वी के विषाक्त होने के रूप में हो या युद्ध की विभीषिका के रूप में—अर्थ एक ही होगा कि मनुष्य के पाँव भौतिक लालसाओं की ओर तृष्णा, अहंता और विलासिता की ओर तेजी से बढ़ते रहे तो कल न सही परसों वह विभीषिका निश्चित रूप से आएगी जो इस धरती के साथ उसकी उन्नति को भी चाट जाएगी, महत्त्वाकांक्षाएँ तो नष्ट होंगी ही। चौदह वर्ष पूर्व २२ अप्रैल, १९७१ को अमेरिका में अनेक स्थानों पर 'पृथ्वी दिवस' (अर्थ-डे) मनाया गया। उस दिन लोगों से पैदल, रिकशा या ताँगा में चलने की अपील की गई। किसी भी मशीन वाली फैक्टरियाँ या कारखाने को न चलाने का आग्रह किया गया। उस दिन सब काम अपने हाथों से करने को कहा गया। उसी दिन के लिए 'अर्थ-टाइम्स' नाम का एक विशेष बुलेटिन निकाला गया, सभाएँ हुईं, जुलूस निकाले गए। इसका उद्देश्य जनमानस का ध्यान इस ओर आकर्षित करना था कि आज की जीवन-पद्धति मशीनों, कारखानों से पर्यावरण इस तरह दूषित हो रहा है कि पृथ्वी में विनाश की संभावनाएँ साकार होने लगी हैं। अतएव मनुष्य को उससे बचना चाहिए। इस अभूतपूर्व आयोजन ने संसार भर के लोगों को झकझोर दिया।

आज मनुष्य जाति ने अत्यधिक वैभव-विलासिता का जो दृष्टिकोण अपनाया है, जिसके लिए वह प्रकृति की गोद से उतरकर कृत्रिमता की ओर, यंत्रीकरण की ओर दौड़ता चला जा रहा है। क्या वह उसके लिए हितकारक भी है या फिर उस चिंतन, उस दृष्टिकोण में किसी तरह संशोधन की आवश्यकता है। अब तक परिस्थितियों ने जो मोड़ लिया, प्रगति जिस चौराहे तक पहुँची है, उससे प्रगति कम, भटकाव अधिक प्रतीत हो रहा है। आज का मनुष्य उस कगार

पर आ गया है जिससे आगे बढ़ने पर सर्वनाश ही सुनिश्चित है। अभियांत्रिका आधुनिक सभ्यता के वे दुष्परिणाम अब पूरी तरह सामने आ गए हैं।

राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में वातावरण को जीवन योग्य बनाए रखने की समस्या पर विचार करने के लिए पिछले दिनों जो अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन स्टाकहोम में हुआ था उसका सम्मिलित स्वर भी यही था—"हमारे पास एक ही पृथ्वी है। इसे जीने लायक रखना चाहिए।" सम्मेलन का सुझाव था—प्राकृतिक भंडारों का मितव्ययता के साथ उपयोग किया जाए, प्रयोग की हुई वस्तुओं को पुनः काम के लायक बनाया जाए, बढ़ते हुए शोर को रोका जाए और वायु एवं जल के बढ़ते हुए प्रदूषण को रोका जाए।

जिस क्रम से हमारी तथाकथित 'प्रगति' प्राकृतिक संतुलन को बिगाड़ रही है, उसे दूरदृष्टि से देखा जाए तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि तात्कालिक लाभ में अंधे होकर हम भविष्य को घोर अंधकारमय बनाने के लिए आतुर हो रहे हैं। सारा दोष उस मानवीय पद्धति को है, जिस प्राकृतिक व्यवस्था की ओर ध्यान दिए बिना कम से कम श्रम और अधिकतम विलासिता के साधन एकत्र करने की धुन लगी हुई है। व्यक्ति के इस उतावलेपन ने सामूहिक रूप धारण कर लिया है। इससे प्राकृतिक व्यवस्थाओं का विचलित होना स्वाभाविक है। मशीनीकरण, प्राकृतिक संपदाओं का दोहन और उनका अंधाधुंध उपभोग, राष्ट्रों के बीच सर्वशक्तिमान बनने की महत्त्वाकांक्षाएँ और उनके फलस्वरूप आणविक अस्त्र-शस्त्रों की होड़—सब मिलाकर परिस्थितियाँ नियंत्रण से बाहर हो चली हैं, इससे विचारशीलता का चिंतित होना और तथाकथित प्रगति पर रोक

लगाना आवश्यक हो गया है। यह सब एकमात्र इस बात पर आधारित है कि मनुष्य अपना चिंतन, अपने दृष्टिकोण में मानवतावादी आदर्शों का समावेश करे और वह जीवन-नीति अपनाए जिससे भरपूर श्रम में जीवनयापन का प्राकृतिक ढंग उभरकर सामने आ सके।

मनुष्य की दुर्भावनाएँ जब तक व्यक्तिगत जीवन तक सीमित रहती हैं, तब तक उसका प्रभाव उतने लोगों तक सीमित रहता है जितनों से कि उस व्यक्ति का संपर्क रह सके। परंतु जब राजसत्ता और विज्ञान का भी सहारा मिल जाए तो उन दुर्भावनाओं को विश्वव्यापी होने और सर्वग्रही संकट उत्पन्न करने में कुछ भी कठिनाई नहीं रहती। स्वार्थों का संघर्ष, संकीर्णता और अनुदारता का दृष्टिकोण, शोषण और वर्चस्व का मोह आज असीम नृशंसता के रूप में अट्टहास कर रहा है। राजसत्ता और विज्ञान की सहायता से उसका जो स्वरूप बन गया है, उससे मानवता की आत्मा थर-थर काँपने लगी है। मानव प्राणी की चिरसंचित सभ्यता का नामोनिशान मिटाकर रख देने वाली परिस्थितियों की विशाल परिमाण में जो तैयारी हो चुकी है, उसमें चिनगारी लगने की देर है कि यह बेचारा भूमंडल बात की बात में नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। मानव मन की दुर्भावनाओं की घातकता अत्यंत विशाल है। २४००० मील व्यास का यह पृथ्वी ग्रह उसके लिए एक ग्रास के बराबर है।

अधिकाधिक लाभ कमाने के लोभ ने अधिकाधिक उत्पादन पर ध्यान केंद्रित किया है। मानवी रुचि में अधिकाधिक उपयोग की ललक उत्पन्न की जा रही है ताकि आवश्यक किंतु आकर्षक वस्तुओं की खपत बढ़े और उससे निहित स्वार्थों को अधिकाधिक लाभ कमाने का अवसर मिलता जाए। इस एकांगी घुड़दौड़ ने यह भुला

दिया है कि इस तथाकथित प्रगति और तथाकथित सभ्यता का सृष्टि संतुलन पर क्या असर पड़ेगा? 'इकॉलाजिकल बेलेंस' गँवाकर मनुष्य सुविधा और लोभ प्राप्त करने के स्थान पर ऐसी सर्प-विभीषिका को गले में लपेट लेगा जो उसके लिए विनाश का संदेश ही सिद्ध होगी। एकांगी भौतिकवाद अनियंत्रित उच्छृंखल दानव की तरह अपने पालने वाले का ही भक्षण करेगा। यदि विज्ञानरूपी दैत्य से कुछ उपयोगी लाभ उठाना हो तो उस पर आत्मिकी का, मानवी सदाचार का नियंत्रण अनिवार्य रूप से करना ही पड़ेगा।

विज्ञान दैत्य तब है जब उसका दुरुपयोग अनियंत्रित उच्छृंखल मानवी बुद्धि द्वारा होने लगे। सुख-सुविधाएँ जरूरी हैं, पर जब पर्यावरण से बलात्कार करने, साधनों का दुरुपयोग करने पर ही वैज्ञानिक समुदाय उतारू हो जाए तो विनाश सुनिश्चित है। विवेकशीलता का तकाजा है कि विज्ञान की उपलब्धियों का सदुपयोग हो, उज्ज्वल भविष्य की संभावनाओं को साकार करने के लिए उनका सुनियोजन हो।

इकॉलाजी विज्ञान के नियमोपनियमों के परिपालन में ही मानव का समग्र उत्कर्ष निहित है, यह एक सुनिश्चित तथ्य है। प्रगति अनिवार्य है, क्योंकि वह मनुष्य की सहज आकांक्षा एवं एक अनिवार्य वृत्ति है किंतु यह भी जरूरी है कि उसका निर्धारण विवेक के आधार पर हो। नीतिमत्ता एवं बुद्धिमत्ता को परस्पर समन्वित कर औचित्य के परिप्रेक्ष्य में निर्धारण किए जाएँ एवं प्रगति के मापदंड बनें। इस तथ्य को यदि ध्यान में रखा जाएगा तो मानवी प्रयासों को सफलता तो मिलेगी ही, प्रकृति-व्यवस्था में कोई व्यतिक्रम न होने से उसका उदारता भरा सहयोग भी सहज ही मिलता रहेगा।

इकॉलाजी प्रणाली का एक ही ऊर्जाचक्र

प्रकृति, जीव एवं वनस्पतियों का परस्पर एकदूसरे से घनिष्ठ संबंध है। पृथ्वी, जल, वायु तथा अगणित जीवनोपयोगी पदार्थ प्रकृति के घटक हैं। प्राणियों अथवा वनस्पतियों के रूप में गतिशील जीवन का इन सबके सहयोग एवं संतुलन के आधार पर ही अपना अस्तित्व है। लगता भर है कि सभी अलग-अलग घटक हैं पर वास्तविकता यह है कि एक अभिन्न चक्र से सभी जुड़े हुए हैं, एक ही माला के मनके हैं। एक ही गति एवं स्थिति से समस्त चक्र प्रभावित होता और तदनुरूप प्रतिक्रिया दरसाता है। इकॉलाजी के विशेषज्ञों का मत है कि प्रकृतिचक्र की अपनी स्वसंचालित प्रक्रिया है। यदि उसमें अनावश्यक हस्तक्षेप न किया जाए तो वह सतत गतिमान रहते हुए अगणित अनुदानों से जीवजगत की सेवा करता रह सकता है।

इकॉलाजी विशारदों के अनुसार जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक तीस से चालीस रासायनिक तत्त्व प्रकृति में सदा परिभ्रमण करते रहते हैं। उनका परिवर्तन विभिन्न चक्रों में, विभिन्न रूपों में होता रहता है। विज्ञानवेत्ता इसे 'बायोजियोकेमिकल साइकिल' कहते हैं। यह चक्र प्राणियों एवं वनस्पतियों के जीवन का स्रोत है, जिससे वे अपने-अपने लिए विभिन्न तरह के रासायनिक तत्त्व रूपी आहार प्राप्त करते हैं। अवशोषित तत्त्व जीवकोशों में पहुँचते हैं, जहाँ चयापचय क्रिया संपन्न होती है। अवशिष्ट पदार्थ उत्सर्जन के बाद अकार्बनिक जगत को लौटा दिए जाते हैं। यही चक्र निरंतर गतिशील रहकर प्रकृति की संतुलन व्यवस्था को सतत दृढ़ बनाए रखता है।

गैस रूप में विद्यमान वायुमंडल के रासायनिक तत्त्व जीवधारियों द्वारा शोषित होकर पोषक तत्त्वों में बदल जाते हैं, उदाहरणार्थ— कार्बन डाइ-आक्साइड कार्बोहाइड्रेट में तथा नाइट्रोजन प्रोटीन में। आहारचक्र के अंतर्गत अन्यान्य घटकों से गुजरते हुए वे अपने मूल स्वरूप में उत्सर्जन, श्वसन इत्यादि प्रक्रियाओं के उपरांत वायुमंडल को लौटा दिए जाते हैं। भूमिगत रासायनिक तत्त्वों का चक्र भी इसी प्रकार संचालित होता रहता है। पत्थरों के अपक्षयन से खनिज उत्पन्न होते हैं जो लवण के रूप में परिवर्तित होकर मिट्टी में जल अथवा समुद्र, झरना, नदी में मिल जाते हैं और जलचक्र के अभिन्न अंग बन जाते हैं। पौधे-प्राणी इस खनिज लवण को ग्रहण करते हैं। फिर आहारचक्र की शुरुआत हो जाती है। अवशिष्ट पदार्थों के नियोजन तथा अंगों के अपक्षयन से खनिज तत्त्व पुनः लवण एवं जल के रूप में हस्तांतरित कर दिए जाते हैं।

इस बायोजियोकेमिकल साइकिल द्वारा जीवजगत की विभिन्न प्रक्रियाओं से उत्पन्न अवशेषों का प्रयोग दूसरे समुदाय द्वारा कर लिया जाता है। एक का अवशिष्ट पदार्थ दूसरे का ऊर्जा स्रोत अथवा आहार बन जाता है। प्राणियों के अवशिष्ट पदार्थों में मिली नाइट्रोजन जीवाणुओं का आहार बन जाती है। जीवाणु मरकर भूमि को उर्वरा बनाते हैं। मिट्टी से पौधे पोषण प्राप्त करते हैं। पौधों से पशुओं को आहार मिलता है। इस प्रकार एक अविराम गतिचक्र चलता रहता है। मनुष्य द्वारा उत्सर्जित विष समान कार्बन डाइ-आक्साइड पौधों का जीवनाधार है।

इसी प्रकार जनन, पोषण, अभिवर्द्धन, परिशोधन एवं संतुलन का स्वसंचालित गतिचक्र प्रकृति में चलता रहता है जो प्रकृति के

विभिन्न घटकों के पारस्परिक सहयोग पर आधारित है। जन्म एवं विकास की तरह मृत्यु व विनाश भी उस जीवनचक्र के गति एवं संतुलन के लिए आवश्यक है। पदार्थों के गतिचक्र तथा उससे उत्सर्जित होने वाले ऊर्जा-प्रवाह पर ही समस्त जीवों का जीवन अवलंबित है। जिन्हें जड़ समझा जाता है, उनमें भी यह चक्र गतिशील है। जल के वाष्पीकरण, जमाव तथा पत्थरों के उद्‍भव एवं कटाव के रूप में भी वह चक्र क्रियाशील है। इसी प्रकार पौधों द्वारा भी सूर्य का प्रकाश अवशोषित किया जाता है तथा पुनः ऊर्जा के रूपांतरण के साथ अंतरिक्ष में छोड़ दिया जाता है।

प्रत्येक जीवनदायी पदार्थ में जल का अंश होता है। जीवधारी जब उन्हें ग्रहण करते हैं तो उसका जल कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, फास्फोरस व सल्फर को कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा तथा अन्य जीवनदायी पोषक तत्त्वों में बदल देता है। पौधे मिट्‍टी से पोषण तत्त्वों के रूप में नाइट्रेट, अमोनिया, सल्फेट आदि प्राप्त करते हैं। वे प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया से ऑक्सीजन को वायुमंडल में छोड़ते रहते हैं। वातावरण में प्रचुर परिमाण में विद्यमान नाइट्रोजन एक निष्क्रिय गैस है जो जीवधारियों द्वारा सीधे प्रयोग में नहीं लाई जा सकती, जबकि वह जीवन की एक प्रमुख इकाई है। पर प्रकृति की व्यवस्था वस्तुतः विलक्षण है। दूसरी एक प्रक्रिया से वह उस गैस को प्रयोग योग्य बना देती है। वातावरण में जीवाणुओं की जातियाँ तथा कुछ 'एल्गी' की प्रजातियाँ इस गैस को उपयोग में लाती हैं तथा वायुमंडल से खींचकर मिट्‍टी में छोड़ देती हैं। मिट्‍टी के जीवाणु नाइट्रोजन को अमोनिया में बदल देते हैं। कुछ पौधे अमोनिया को सीधे प्रयोग कर लेते हैं, परंतु अधिकांश मिट्‍टी के जीवाणुओं

द्वारा इसके नाइट्राइट व नाइट्रेट में परिवर्तित किए जाने के उपरांत ही ग्रहण करते हैं। कैल्शियम, सल्फर, मैग्नेशियम, पोटेशियम तथा बोरोन जैसे खनिज तत्त्व मिट्टी के माध्यम से पौधों की जड़ों को प्राप्त होते हैं। पौधों के विनिष्ट होने पर पुनः मिट्टी में मिल जाते हैं।

प्रकृति में विभिन्न प्रकार के चक्र चलते रहते हैं। अपनी अलग-अलग भूमिका संपन्न करते हुए भी वे परस्पर एकदूसरे से अन्योन्याश्रित रूप में जुड़े हुए हैं। कार्बन एवं ऑक्सीजन का एक चक्र है। अनुमान है कि पूरे जीवमंडल में २×१०×१६ टन कार्बन संव्याप्त है। यह वायुमंडल में ७×१०×११ टन कार्बन डाइ-ऑक्साइड तथा हरे पौधों में ४.५×१०×११ टन कार्बोहाइड्रेट के रूप में पाया जाता है। प्रकाश संश्लेषण तथा पौधों की श्वसन क्रिया से वायुमंडल के साथ कार्बन डाइ-ऑक्साइड का विनिमय चलता रहता है जिसके फलस्वरूप इसकी वार्षिक उत्पादकता धरातल पर २.५×१०×१० टन तथा समुद्री क्षेत्र में २×१०×१० टन प्रतिवर्ष होती है। दिन के समय में प्रकाश संश्लेषण से पौधे के समीप के वायुमंडल में कार्बन डाइ-ऑक्साइड १२ प्रतिशत घट जाती है पर रात्रिकाल में जीवाणुओं, पौधों तथा पशुओं के श्वसन से धरातल पर कार्बन डाइ-ऑक्साइड की सांद्रता १५ प्रतिशत बढ़ जाती है। इससे संतुलन बना रहता है। यही संतुलन पर्जन्य वर्षा का कारण बनता है, जिससे वनस्पतियों, खाद्य में प्राणतत्त्व समाविष्ट होता है।

अनुमान है कि मात्र ईंधन के जलाए जाने से वायुमंडल में ६×१०×९ टन कार्बन डाइ-ऑक्साइड वायुमंडल में भरती जा रही है। वाहनों तथा बड़े कारखानों से निकली मात्रा इसके अतिरिक्त है। कार्बन डाइ-ऑक्साइड जल में भी घुलनशील है। इस विशेषता के

कारण वह समुद्र के माध्यम से समस्त संसार में वितरित कर दी जाती है, पर उसका बाहुल्य होने से जलचरों के अस्तित्व के लिए संकट खड़ा हो गया है। यही स्थिति वायुमंडल की है। उसमें भरी दमघोंटू विषाक्तता अगणित प्रकार के रोगों का कारण बनती है।

ऑक्सीजन का चक्र भूमंडल, वायुमंडल तथा जीवमंडल के बीच गतिशील रहता है। ऑक्सीजन की मात्रा संतुलित रखने तथा उसके चक्र को गतिशील रखने में पौधों की प्रकाश-संश्लेषण क्रिया का महत्त्वपूर्ण योगदान है। ऑक्सीजन के अतिरिक्त भी अन्य गैसों का चक्र क्रियाशील है। वायुमंडल में नाइट्रोजन लगभग ८० प्रतिशत है, जो अपने मूल स्वरूप अथवा परिवर्तित रूप में जीवधारियों के काम आती है, पर मनुष्य द्वारा कृत्रिम खादों के अधिक प्रयोग से वह चक्र भी बिगड़ता चला गया है।

जलचक्र पृथ्वी, सूर्य और समुद्र के सहयोग से गतिशील है। पृथ्वी एवं समुद्र का जल सूर्य प्रकाश से वाष्पीभूत होकर वायुमंडल में पहुँचता, घनीभूत होकर बादल में बदलता तथा पुनः वर्षा के रूप में पृथ्वी एवं नदियों को लौटा दिया जाता है जो पुनः समुद्र में जा पहुँचता है। वर्षा की मात्रा किसी देश अथवा द्वीप की बनावट के ऊपर निर्भर करती है। जल के विश्वव्यापी वितरण का लेखा-जोखा लिया जाए तो मालूम होगा कि जलवृष्टि से पृथ्वी को प्राप्त जल की मात्रा वाष्पीकृत हुए जल के ही समतुल्य होती है। आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका में सूखे की स्थिति सदा बनी रहने का कारण यह है कि वहाँ वर्षा के जल का ७५ प्रतिशत भाग वाष्पीभूत हो जाता है।

जल एवं गैसों के अतिरिक्त ऊर्जा का चक्र भी सर्वत्र सक्रिय है। गति अथवा विकास के लिए प्रेरणा एवं शक्ति पेड़-पादप तथा

जीव-जंतु उसी से प्राप्त करते हैं। इस चक्र के अध्ययन विश्लेषण की नई तकनीक रेडियो, आइसोटोप, माइक्रोकैलोरीमेट्री, कंप्यूटर साइंस तथा एप्लाइड गणित के सम्मिलित सहयोग से विकसित हुई है। इकॉलाजी प्रणाली में ऊर्जाचक्र को समझने में इस विधि से भारी मदद मिली है। ऊर्जा का प्रमुख स्रोत सौर विकिरण है। इस विकिरण का कुछ अंश 'आटोट्राफ' प्रक्रिया द्वारा जैविक पदार्थ में बदल दिया जाता है जिससे समस्त भूमंडल की आहार आवश्यकता की पूर्ति होती है। आहारचक्र में जीवधारियों के एक समुदाय की आहार ऊर्जा परिवर्तित रूप में दूसरे समुदाय को हस्तांतरित कर दी जाती है।

प्रकृति के इन विभिन्न चक्रों के युग्म एवं पारस्परिक सहकार से सृष्टि में जीवन विभिन्न रूपों में अठखेलियाँ कर रहा है। एक की गति एवं स्थिति में परिवर्तन का सीधा प्रभाव समूचे 'इकॉलाजिकल चक्र' पर पड़ता है। पेड़-पादपों, जीव-जंतुओं, सूक्ष्म जीवाणुओं, मनुष्य तथा संबंधित पर्यावरण के सह-अस्तित्व एवं सम्मिलित जटिलतम प्रणाली को 'इकोसिस्टम' कहा जाता है। इस संतुलन के कारण ही समस्त प्रकृति के सभी व्यापार ठीक ढंग से चलते हैं। प्रत्येक इकॉलाजिकल सिस्टम सैकड़ों-हजारों जैविक समुदायों के सहयोग से मिलकर बना है, जो ऊर्जा, रासायनिक द्रव्यों का हस्तांतरण एक से दूसरे में करता रहता है। अंतर्जगत के इकोसिस्टम की प्रक्रिया भी स्वयं में अद्भुत है। इस प्रक्रिया के ध्वंस एवं निर्माण, जन्म और मरण संबंधी विविध क्रियाओं से वातावरण के समीपवर्ती एवं दूरवर्ती क्षेत्रों में विभिन्न रसायनों का आदान-प्रदान चलता रहता है।

प्रकृति के सभी क्रिया-कलाप विभिन्न घटकों के परस्पर सहयोग पर गतिशील हैं। सबका अस्तित्व भी इसी सिद्धांत पर अवलंबित है। इसमें गतिरोध तब उत्पन्न होता है, जब अनावश्यक छेड़छाड़ की जाती और प्रकृति की स्वचालित व्यवस्था भंग की जाती है। प्रकृति ही नहीं समस्त मानव जाति भी एक जीवनचक्र में बँधी हुई है। एक की स्थिति दूसरे को प्रभावित करती है। सबकी सुख-शांति भी इसी बात पर आधारित है कि हर व्यक्ति अपने को विराट परिवार का अभिन्न अंग माने, उसके विकास में सहयोग दे। व्यक्तिगत स्वार्थ की भी स्थायी रूप से आपूर्ति तभी हो सकती है जब समाज सर्वतोमुखी विकास की ओर चले। संकीर्णता जहाँ कहीं भी पनपेगी, विलगाव को जन्म देगी। हिल-मिलकर रहने, सहकार की नीति अपनाने तथा उपलब्धियों के आदान-प्रदान की उदारता अपनाने पर ही प्रकृति का संतुलन बना हुआ है। यही रीति-नीति मनुष्य जाति को भी अपनानी होगी। सबकी उपेक्षा करके एकाकी कोई भी जीवित नहीं रह सकता। सह-अस्तित्व का सिद्धांत प्रकृति पर नहीं मनुष्य के ऊपर भी लागू होता है। मानव जाति की सुख-शांति एवं उज्ज्वल भविष्य का इसे संक्षेप में आचार सूत्र समझा जा सकता है।

❑

यह सृष्टि मात्र संयोग नहीं है

क्या इस सृष्टि की उत्पत्ति अनायास ही हो गई ? नहीं अकस्मात तो दुर्घटनाएँ हुआ करती हैं, सृजन नहीं। सुव्यवस्था एवं संतुलन का होना इस बात का परिचायक है कि उसे बनाने और नियंत्रण करने वाली कोई बुद्धिमान एवं समर्थ सत्ता है। यह विराट, अद्‌भुत और सुव्यवस्थित सृष्टि अपने आप बनकर तैयार हो गई, स्वसंचालित है, यह प्रतिपादन बुद्धि के पल्ले नहीं पड़ता। संयोगवश अपने आप न तो मकान बनकर तैयार हो जाता है और न ही मोटर आदि। जिन मशीनों, कंप्यूटर आदि यंत्रों को आटोमेटिक कहा जाता है उन पर भी नियंत्रण रखना होता है। संयोगवश अपने आप धूल के कणों को एकत्रित होकर ईंटों में परिवर्तित होते, एक के ऊपर एक सजकर मकान में बदलते किसने देखा है। मोटर में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न यंत्र एकत्रित होकर स्वयमेव मोटर में परिवर्तित हो गए हों और गतिशील बन गए हों ऐसा उल्लेख संसार भर में कहीं नहीं मिलता। कोई इंजिन, कल-कारखाना किसी आटोमेटिक प्रक्रिया द्वारा स्वतः चलता एवं बंद होता रहे, ऐसा संभव नहीं है। इनके सुसंचालन के लिए सदा नियंत्रण बनाए रखना होता है।

वह समय अब पीछे छूटता जा रहा है, जब विज्ञान अपनी बालबुद्धि के सहारे यह कहता था कि सृष्टि अपने आप बनकर तैयार हो गई और आटोमेटिक प्रक्रिया द्वारा गतिशील है। संसार के मूर्द्धन्य वैज्ञानिकों ने अपनी सूक्ष्म खोजों के उपरांत यह घोषणा की है कि सृष्टि रचना एक संयोग नहीं बुद्धि का चरम आविष्कार है। उसका सुसंचालन कोई अदृश्य किंतु सर्वसमर्थ सत्ता कर रही है। उस सत्ता को समग्र संतुलन बिठाने वाली इकॉलाजी के सिद्धांतों पर

चलने वाली सुनियोजित विधि-व्यवस्था के रूप में जाना जा सकता है।

मात्र मोटी दृष्टि अनगढ़, अव्यवस्थित और निष्प्रयोजन जान पड़ती है, पर गहराई से पर्यवेक्षण-अध्ययन करने वाले जानते हैं कि सर्वत्र सुव्यवस्था, सुगढ़ता का साम्राज्य है। अनगढ़, निष्प्रयोजन दीखने वाले घटकों की भी अपनी महत्ता-उपयोगिता है। विशालकाय समुद्र को देखकर यह प्रतीत हो सकता है कि उसने बेकार में भूमंडल का एक बड़ा भाग घेर रखा है। पर इकॉलाजी शास्त्र के विशेषज्ञ जानते हैं कि समुद्र का अस्तित्व न होता तो समय पर वर्षा, मौसम आदि की प्रकृति सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होतीं। इस विराट सृष्टि में जो कुछ भी है, उपयोगी है। उन घटकों में एक अद्‌भुत तारतम्य एवं सामंजस्य देखने को मिलता है। ऐसा लगता है कि जिसने भी सृष्टि बनाई, सोच-समझकर बनाई होगी।

गढ़ने एवं परस्पर एकदूसरे से तारतम्य स्थापित करने वाले स्रष्टा कलाकार की कलाकृति एवं व्यवस्था बुद्धि को देखकर हैरत में पड़ जाना पड़ता है। गर्भकाल में जीवन को परिपोषित करने वाली एक तरह की परिस्थितियाँ उपलब्ध थीं, जन्म होने पर समूची सत्ता ही बदली हुई थी, पर तदनुरूप दूसरे तरह की अनुकूल परिस्थितियाँ पहले से ही मौजूद थीं। शरीर को विभिन्न प्रकार की इंद्रियाँ मिलीं तो उनकी उपयोगिता को सार्थक करने वाले अनेक विषयों का भी अस्तित्व विद्यमान था। शरीर को दो छोटी आँखें मिलीं तो उन आँखों को सार्थकता प्रदान करने वाला लाखों मील दूर प्रचंड सूर्य था, उससे भी दूर टिमटिमाते हुए नन्हे-नन्हे तारे थे। उनसे निस्सृत प्रकाश को हमारी आँखों ने देखा। प्रकाश का अस्तित्व न होता तो ये आँखें

बेकार थीं। एकाकी वे देख पाने में कुछ भी समर्थ न हो पातीं। दोनों कानों को सुनने के लिए ध्वनि की सत्ता मौजूद थी। तभी तो कर्णेंद्रियाँ उसे सुनने में समर्थ हो सकीं। ऐसा लगता है कि जिसने इन कानों की रचना की, मानो उसी ने ध्वनि उत्पादक स्रोतों में ध्वनि आविर्भाव की क्षमता भी प्रदान की। जिसने स्वादानुभूति के लिए जिह्वा दी, उसी ने फलों, शाकों एवं खाद्यान्नों में रस उत्पन्न किया। यही स्थिति घ्राणेंद्रियों की है। इसकी सार्थकता के लिए ही पुष्पों एवं वनस्पतियों की सुगंध संभवतः अभिव्यक्त हुई। इस विलक्षण तादात्म्य को देखकर यह भान होता है कि गर्भावस्था की घोर अंधकार तमिस्रा में बैठा जो इंद्रियों की रचना कर रहा था, वह अवश्य ही कुशल तत्त्वदर्शी स्रष्टि का द्रष्टा रहा होगा, जिसे बाह्याभ्यंतर जगत का परिपूर्ण ज्ञान था। जिसे इंद्रियों को मात्र गढ़ना ही अभीष्ट नहीं वरन उनका सुनिश्चित प्रयोजन भी उसके समक्ष स्पष्ट था।

सुनिश्चित प्रयोजन और सुव्यवस्था का प्रमाण भूमंडल पर उपलब्ध परिस्थितियाँ भी देती हैं। उन्हें देखकर लगता है कि किसी सर्वज्ञ द्वारा ही जीवन को परिपोषित करने के लिए हर तरह की अनुकूलताओं का सृजन किया गया है। भौतिकीविदों के वह प्रतिपादन तर्कपूर्ण नहीं लगते कि पृथ्वी सृष्टि के आदि में जलता हुआ एक आग का गोला थी जो कालांतर में अनेकानेक परिवर्तनों से गुजरने के बाद अपने आप इस योग्य बन गई कि जीवधारी जीवनयापन कर सके। जीवन धारण करने योग्य बनने के लिए पृथ्वी ने जितने रूप बदले हैं, वे इतने अधिक एवं सुव्यवस्थित हैं कि उन्हें आकस्मिक नहीं माना जा सकता। एक निश्चित गति एवं कक्षा में पृथ्वी सतत परिभ्रमणशील है। पृथ्वी सतत अपनी धुरी पर घूमती रहती है,

जिससे एक के बाद एक दिन और रात बनते हैं। सूर्य के चारों ओर पृथ्वी का घूमना एक, दूसरे प्रकार की गति है। गैलीलियो तथा ब्रूनो ने इन्हीं दो गतियों की खोज की थी पर भारत के प्रख्यात ज्योतिर्विद आर्यभट्ट ने सदियों पूर्व इन दोनों ही तरह की गतियों का वर्णन '**आयंगोः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः**' मंत्र में किया है। इन दोनों गतियों के कारण ही पृथ्वी के परिभ्रमण में स्थिरता आती है। वह अपने ध्रुवीय अक्षों पर घूमते हुए २३ अंश पर झुकी हुई है। ऋतुओं में नियमितता का कारण यह झुकाव ही है। उल्लेखनीय है कि यदि झुकाव एवं गति की विशेषताएँ न होतीं तो पृथ्वी पर विविध प्रकार की वृक्ष-वनस्पतियों का अस्तित्व भी न होता। पृथ्वी की स्थिरता-जड़ता को जन्म देती और वह 'सस्य श्यामला' नहीं दिखाई पड़ती। ध्रुवीय अक्ष पर पृथ्वी के झुकाव में पड़ने वाले थोड़े अंतर से भी गंभीर संकट उत्पन्न हो सकते हैं।

जीवन धारण करने योग्य परिस्थितियों के निर्माण में भूमंडल के वातावरण की सहायक गैस परतों का विशेष योगदान है। खगोल विज्ञानियों के अनुसार प्रतिदिन लगभग दो करोड़ उल्काएँ तीस मील प्रति सेकंड की गति से गिरती हैं। इनकी गति एवं प्रचंड ऊर्जा पृथ्वी को तहस-नहस करने के लिए पर्याप्त है। इनके अतिरिक्त सूर्य आदि पिंडों से पोषक जीवनतत्त्वों के साथ-साथ घातक किरणें भी आती हैं। सोलह सौ किमी. की मोटी गैस परतें उन हानिकारक प्रभावों से पृथ्वी की रक्षा करती हैं।

ट्रोपोस्फीयर, स्ट्रैटोस्फीयर, मीजोस्फीयर, थर्मोस्फीयर, आयनोस्फीयर जैसी विभिन्न परतें रक्षा कवच की भूमिका निभाती हैं। सूर्य की प्रचंड गरमी का उपयोगी अंश पृथ्वी के जीवधारियों के

लिए इन परतों से छनकर आता है। साथ ही समुद्र की विशाल जलराशि को वाष्पीकृत करने में भी इन परतों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वायुमंडल के साथ मिलकर महासागर भी प्रकृति के संतुलन चक्र में सहयोग देते हैं।

मूलतः जलवायु और प्रकाश पर सभी जीवधारियों का अस्तित्व टिका हुआ है। वृक्ष-वनस्पतियाँ जो प्राणियों की आहार हैं, भी इन्हीं तीनों के सहयोग से उगती, बढ़ती, फूलती और फलती हैं। ये तीनों ही जीवनदायी तत्त्व पृथ्वी पर प्रचुर परिमाण में मौजूद हैं। न केवल मौजूद हैं वरन उनका एक सुनिश्चित चक्र एवं संतुलन है जिसके डगमगाते ही भारी संकट उत्पन्न हो सकता है। अन्यान्य ग्रहों पर ऐसी अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं हैं कि जीवधारी वहाँ जीवित रह सकें। लंबी खोज-बीन के बाद भी ऐसा कोई प्रमाण अब तक नहीं मिल सका है कि जीवन का अस्तित्व अन्य ग्रहों पर भी है। ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करके अन्यान्य ग्रहों पर बसने की योजनाएँ तो बन रही हैं, पर वे व्यावहारिक कम, काल्पनिक अधिक हैं।

न केवल जीवित रहने बल्कि प्रगति की दिशा में अनवरत बढ़ते रहने के लिए भी किसी दूरदर्शी सत्ता ने समस्त संसाधन प्रदान किए हैं। वन संपदा, खनिज संपदा, पेट्रोलियम आदि का सभ्यता के विकास में विशेष सहयोग है। वे मनुष्य को हाथ नहीं लगी होतीं तो उसकी बुद्धि की प्रखरता एक किनारे रखी रह जाती और आज भी वह आदिम युग की भाँति पत्थरों से खेलता होता। पर धन्यवाद उस स्रष्टा को—उस कलाकार को जिसने कि भूमंडल की अनुकूलताएँ देकर अपनी महानता का परिचय दिया। पृथ्वी पर भी यदि चंद्रमा, सूर्य अथवा मंगल जैसी दुरूह परिस्थितियाँ होतीं तो जीवन का

अस्तित्व कभी का समाप्त हो गया होता और सर्वत्र श्मशान जैसी नीरवता का साम्राज्य होता।

पृथ्वी की आकृति एवं प्रकृति को देखने से भी लगता है कि उसे सोच-समझकर इस योग्य बनाया गया है कि जीवधारी निवास कर सकें। यदि पृथ्वी का आकार अबकी तुलना में छोटा, चंद्रमा जितना होता तो उसका व्यास भी एक चौथाई होता। प्राप्त निष्कर्षों के अनुसार पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से चंद्रमा की गुरुत्व शक्ति छह गुनी कम है। पृथ्वी का आकार चंद्रमा जितना हो जाने पर उसकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति भी अत्यंत कम हो जाती। उल्लेखनीय है कि धरती के वायुमंडल, जल एवं खनिज संपदा को सँभालने, सुरक्षित रखने में गुरुत्व बल का विशेष सहयोग है। उसमें कमी होते ही अनेकों प्रकार के असंतुलनों का सामना करना पड़ता है। वायुमंडल की रक्षा परतों में व्यतिरेक से ताप की मात्रा इतनी अधिक हो जाती कि जीवित रहना कठिन पड़ता। यदि पृथ्वी का व्यास वर्तमान व्यास से दुगना होता तो भी अनेकों प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होतीं। व्यास दूना होने से धरातल चौगुना हो जाता तथा पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति भी दुगनी हो जाती। परिणामस्वरूप १६०० किमी. की ऊँचाई तक फैला वायुमंडल खतरनाक रूप से सिकुड़कर कम हो जाता। वायुमंडलीय गैसों का दबाव भी १५ से २० पौंड प्रति वर्ग इंच तक बढ़ जाता, जिसका दुष्प्रभाव जीवन पर भी पड़ता। उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुव जैसी भीषण ठंढ अधिकांश क्षेत्रों में पड़ती फलतः जीना दूभर हो जाता।

उपरोक्त वैज्ञानिक तथ्यों पर विस्तृत प्रकाश डालने वाले मानिटोबा (कनाडा) विश्वविद्यालय के जीव भौतिकीविद फ्रेंक

एलेन 'दी एवीडेंस ऑफ गाड इन एक्सपेडिंग यूनिवर्स' पुस्तक में लिखते हैं, "यह पृथ्वी किसी समर्थ सत्ता द्वारा बड़ी सोच-समझकर सत्प्रयोजन के लिए बनाई गई है ताकि जीवों एवं पादपों का निर्वाह होता चले। यदि हमारी पृथ्वी का आकार सूरज जितना बड़ा होता तथा उसकी क्षमता यथावत कायम रहती तो उसकी गुरुता १५० गुनी बढ़ जाती। फलस्वरूप वायुमंडल की ऊँचाई घटकर मात्र चार मील रह जाती। यदि ऐसा हो तो यह एक ऐसी स्थिति होगी, जिसमें पानी का भाप बनकर उड़ना बंद हो जाएगा। तब एक पौंड के प्राणी का वजन बढ़कर १५० पौंड हो जाएगा तथा मनुष्य, हाथी, शेर आदि का आकार घटकर अत्यंत कम हो जाएगा।" फ्रैंक एलेन का मत है— "गिलहरी जैसी इस छोटी आकृति वाले मनुष्य में बौद्धिक क्षमता भी प्रायः समाप्त हो जाती। पर सचमुच ही वह सत्ता अत्यंत महान है जिसने उन प्रतिकूलताओं से धरती को बचाए रखा तथा अनुकूलताओं को जन्म देकर समस्त जीवों को विकसित होने का अवसर प्रदान किया।"

आकार का ही नहीं पृथ्वी की अन्य ग्रहों की दूरी से भी धरती पर अनुकूल परिस्थितियों के निर्माण में घना तारतम्य एवं संबंध है। सूर्य को ही लें। उसकी दूरी पृथ्वी से इस समय जितनी है उससे यदि बढ़कर दूनी हो जाए तो सरदियों के मौसम की अवधि हो जाएगी। यह स्थिति हिमयुग को आमंत्रित करेगी। इसके विपरीत यदि सूर्य से पृथ्वी की दूरी वर्तमान दूरी से घटकर आधी हो जाए तो सूर्य से मिलने वाली गरमी चार गुनी बढ़ जाएगी। फलतः ऋतुओं की लंबाई आधी रह जाएगी। धरती इतनी अधिक गरम हो जाएगी कि प्राणी, वृक्ष, पादप सभी जलकर खाक बन जाएँगे। इस समय पृथ्वी का जो

आकार है, सूर्य से जितनी दूरी है, अयन में घूमने का उसका जो वर्तमान वेग है, वे सभी जीवन धारण करने के अनुकूल हैं। मनुष्य जाति अनेकानेक सुख-सुविधाओं का उपभोग करती हुई आमोद-प्रमोद कर रही है, वह उन अनुकूलताओं का ही परिणाम है।

जड़ परमाणुओं के संघात से सृष्टि के अकस्मात बनने जैसे निराधार तथ्यों का प्रतिपादन करने वाले तथाकथित अल्पबुद्धि संपन्नों के लिए सदियों पूर्व प्रसिद्ध दार्शनिक फ्रांसिस बेकन ने कहा था, "थोड़ी वैज्ञानिक बुद्धि तथा दार्शनिकता आदमी को नास्तिकता की ओर ले जाती है पर गंभीर शोध बुद्धि एवं दार्शनिकता मनुष्य को आस्तिकता की ओर ले जाती है। अतएव सृष्टि की नियामक सत्ता के संदर्भ में इनकार करने के पूर्व गंभीरता से विचार करना चाहिए।"

सचमुच ही वह अन्वेषक दृष्टि विकसित हो जाए तथा गहराई से मनुष्य खोज-बीन करे तो अपने ही चारों ओर उसे समर्थ अदृश्य सत्ता के अनेकों प्रमाण मिल जाएँगे। तब वह चाहे वैज्ञानिक ही क्यों न हो, रसायनशास्त्री थामस डेविड पार्क्स की भाँति अपनी भाषा में कह उठेगा, "मेरे चारों ओर जितना भी यह दृश्य जगत है, मैं उसमें नियम और प्रयोजन देखता हूँ। मुझे वह मान्यता निराधार जान पड़ती है कि सभी पदार्थ एवं पदार्थों से युक्त यह सृष्टि अकस्मात, मात्र परमाणुओं के संघात से बनी है। मैं तो सर्वत्र कण-कण में बुद्धि व्यवस्था का साम्राज्य देखता हूँ। एक ऐसी बुद्धि जो सुपर है, अचिंत्य, अगोचर है। उस महती बुद्धि को ही मैं परमात्मा कहता हूँ।"

डेविड पार्क्स के अनुसार, "एक रसायनविद् के लिए तत्त्वों की नियतकालिक व्यवस्था सबसे महत्त्वपूर्ण एवं आकर्षक अध्ययन का विषय होना चाहिए न कि मात्र तत्त्वों के गुण-दोषों का अध्ययन-

विश्लेषण। कारण कि समाहित नियमबद्धता किसी निर्माणकर्त्ता 'सर्व-समर्थ' का प्रमाण स्वयं दे देगी।'' पानी को उन्होंने एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। फार्मूला के अनुसार पानी का परमाणु भार १८ होता है। रसायनशास्त्र के सिद्धांतानुसार सामान्य तापमान एवं दबाव पर इसे गैसीय अवस्था में होना चाहिए। कारण कि तत्त्वों की कालक्रम तालिका से यही निष्कर्ष निकलता है। अमोनिया का परमाणु भार १७ तथा वह ऋण ३३ सेंटीग्रेड जितने कम तापक्रम पर भी वायुमंडल के दबाव में गैस है। कालक्रम तालिका में तत्त्वों की स्थिति के हिसाब से हाइड्रोजन सल्फाइड का पानी से घनिष्ठ संबंध है। उसका परमाणु भार ३४ तथा ऋण ५९ सेंटीग्रेड पर भी वह गैस ही है किंतु आश्चर्य यह है कि सामान्य तापमान पर भी वह सर्वथा द्रव्य अवस्था में रहता है। यह एक ऐसी विलक्षण स्थिति है जो हर विचारशील को सोचने पर बाध्य करती है पर कोई कारण समझ में नहीं आता है, सिवाय इसके कि पानी की उपयोगिता पृथ्वी पर सर्वाधिक है। वृक्ष-वनस्पतियों तथा प्राणियों सभी के लिए वह अत्यंत उपयोगी है। संभव है उसे अन्य पदार्थों से अलग विशिष्ट स्थिति सृजनकर्त्ता ने इसीलिए प्रदान की है।

थोड़ी और गहराई में चलें तो पानी के इस विशिष्ट गुण की महत्ता और भी स्पष्ट होती है। भूमंडल का तीन चौथाई हिस्सा पानी से ढका है। ऋतुचक्र एवं तापमान के संतुलन में इस विपुल जल-संपदा का विशेष सहयोग है। तत्त्वों की क्रम तालिका के अन्य तत्त्वों से अलग विशेषताएँ न हों तो वायुमंडलीय तापमान एवं प्रकृति-संतुलन चक्र में भारी व्यतिरेक उत्पन्न हो सकता है। पानी को पिघलने के लिए अधिक गरमी चाहिए। चिरकाल तक वह द्रवावस्था

में बना रहता है। भाप के रूप में परिवर्तित होकर उड़ने के लिए उसे और भी अधिक १०० अंश सेंटीग्रेड तापक्रम चाहिए। तापक्रम के सामान्य परिवर्तनों में पानी अपनी अवस्था नहीं बदलता। यह उसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। थोड़े तापक्रम पर यदि भाप बनकर उड़ने लगे अथवा ताप की थोड़ी कमी होने पर बरफ के रूप में जमने लगे तो गंभीर संकट पैदा होने लगेंगे। सर्वत्र पानी का अभाव पड़ जाएगा। ऐसी स्थिति में जीवन संकट में पड़ जाएगा। यदि पानी के अंदर तापमानरोधक विशिष्ट क्षमता न होती तो पृथ्वी जीवन के लिए उतनी अनुकूल न होती।

यह भी एक विलक्षण बात है कि जितने भी ज्ञात पदार्थ हैं, उनमें एकमात्र पानी ही ऐसा द्रव है जो जमने पर हलका हो जाता है। अन्यान्य द्रवों की स्थिति इसके विपरीत है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि जमने के बाद नदियों अथवा झीलों में डूब जाने के बजाए वह ऊपर सतह पर तैरती है और कठोर पिंड के रूप में बदल जाती है। पानी के सबसे ऊपरी सतह पर यह इंसुलेशन की एक ऐसी सतह बना लेती है, जिसके कारण नीचे का पानी जमने नहीं पाता। उसका तापक्रम जमाव बिंदु से ऊपर बना रहता है। जलचर जीव तथा जलीय वनस्पतियाँ इसी कारण सुरक्षित जीवित बने रहते हैं।

पानी ही नहीं सृष्टि के ऐसे अनेकों घटक हैं जो मस्तिष्क को हतप्रभ करते हैं। उनकी रचना का अध्ययन-विश्लेषण तो भौतिक विज्ञान द्वारा किया जा सकता है, पर इसका कोई उत्तर नहीं मिलता कि उनमें वे आवश्यक विशेषताएँ क्योंकर उत्पन्न हुईं, विशेषकर भूमंडल के लिए ही क्यों? उत्तर एवं समाधान के लिए डेविड थामस जैसे अनेक मूर्द्धन्य वैज्ञानिकों की भाँति सोचना होगा, कि यह

समूची सृष्टि किसी सर्वोच्च बुद्धिमान कुशल कलाकार की अद्‌भुत कलाकृति है जो किसी प्रयोजन हेतु बनाई गई है। वह परम सत्ता निश्चित ही अभिनंदनीय, वरणीय एवं श्रद्धा करने योग्य है।

लगभग यही मत इस चिंतन पर चलने वाले अन्य विद्वानों के भी हैं।

डॉ. ए. क्रेसी मोरिसन उन मूर्द्धन्य वैज्ञानिकों में से एक हैं जिन्होंने सृष्टि संचालक सत्ता पर विश्वास करने के अनेकों कारण बताए हैं। डॉ. क्रेसी न्यूयार्क विज्ञान अकादमी के अध्यक्ष भी रह चुके हैं।

डॉ. ए. क्रेसी का कहना है, "ज्योतिर्गणित के नियमों से यह प्रमाणित होता है कि इस संसार का नक्शा किसी कुशल तथा बुद्धिमान इंजीनियर द्वारा खींचा गया है। विश्व की रचना निष्प्रयोजन नहीं, प्रयोजनयुक्त है। इसका प्रमाण है जीवजगत के लिए पृथ्वी पर अनुकूल वातावरण का होना।" उनका कथन है कि पृथ्वी अपनी धुरी पर एक हजार मील प्रति घंटे की रफ्तार से घूमती है। यदि उसकी गति सौ मील प्रति घंटा हो जाए तो दिन और रात अबकी तुलना में दस गुने लंबे हो जाएँगे। दिन के समय सूर्य की गरमी इतनी अधिक होगी कि पृथ्वी की समस्त वनस्पतियाँ जल जाएँगी। रात्रि को भयंकर ठंढ पड़ेगी, जिसके कारण अधिकांश जीव मर जाएँगे।

चंद्रमा की दूरी पृथ्वी से दो लाख चालीस हजार मील है। यदि उसकी दूरी मात्र पचास हजार मील होती तो सागरों में भयंकर ज्वार उठते। फलस्वरूप समस्त महाद्वीप जलमग्न हो जाते। सूर्य जीवन का स्रोत है। उसका सतही तापक्रम बारह डिगरी फारेनहाइट है। सूर्य से पृथ्वी की दूरी एवं प्राप्त होने वाला ताप का सामंजस्य जीवन के अनुकूल है। यदि सूर्य का ताप घटकर आधा शेष रह जाए तो पृथ्वी

के सभी प्राणी जम जाएँगे। तापक्रम आधा और बढ़ जाए तो सब जल-भुनकर समाप्त हो जाएँगे। पृथ्वी २३ डिगरी के कोण पर झुकी है। इस कारण अनुकूल ऋतुएँ मिलती हैं। यह झुकाव न होता तो समुद्री भाप उत्तर से दक्षिण तक फैल जाती और सर्वत्र बरफ के महाद्वीप बन जाते। वायु में ऑक्सीजन एवं कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस के संतुलन में सागरों की गहराई का हाथ है। यदि सागर अधिक गहरे होते तो इन गैसों के अभाव में वनस्पतियों का अस्तित्व नहीं बचता। अंतरिक्ष वायु सुरक्षा कवच पतला अथवा हलका होता तो अगणित उलकाएँ नित्य ही जलती हुई पृथ्वी से आ टकरातीं और समस्त भू-संपदा को भस्मीभूत कर देतीं। हर दृष्टि से पृथ्वी पर अनुकूल, सुरक्षित एवं सुव्यवस्थित वातावरण का होना इस बात का प्रमाण है कि कुशल हाथों से किसी समर्थ सत्ता ने इस सृष्टि की रचना की है। संचालन एवं नियंत्रण की बागडोर भी उसी के हाथों में है।

डॉ. क्रेसी का कहना है कि सर्वत्र वह सत्ता शक्ति के रूप में क्रियाशील है। जीवन उसका ही स्वरूप है। भार, लंबाई, चौड़ाई, अथवा ऊँचाई से रहित होते हुए भी जीवनशक्ति से ओत-प्रोत है। वृक्ष की बढ़ती हुई जड़ के रूप में वह चट्टान को भी तोड़ देता है। जीवन एक मूर्तिकार है जो सभी जीवित तत्त्वों को आकृतियाँ प्रदान करता है। मनुष्य और मनुष्येतर प्राणी नन्हे जीव-जंतु उसी की विभिन्न कलाकृतियाँ हैं। जीवन एक चित्रकार है जो वृक्ष-वनस्पतियों को एक सुनिश्चित रूप देता, पुष्पों में रंग भरता, अपने सौरभ से उन्हें सुरभित करता। वह एक संगीतकार है जिसका संगीत चिड़ियों के माध्यम से गुंजित होता है। वह एक रसायन तत्त्वज्ञ है जो फलों में, अन्नों एवं सब्जियों में विविध प्रकार का स्वाद भरता है।

क्षुद्र प्रोटोप्लाज्म अपने अंदर जीवन की असीम संभावनाएँ छिपाए हुए हैं। वृक्ष-वनस्पतियों से लेकर क्षुद्र जीव-जंतु, पशु-पक्षी और मनुष्य तक इसी नगण्य द्रव से अपना स्वरूप प्राप्त करते हैं। क्षुद्र और महान सभी प्राणी इससे ही जीवन ग्रहण करते हैं। एक जैसा दीखते हुए भी यह जीव जगत में विविध रूपों को धरता, वृक्ष-वनस्पतियों, जीव-जंतुओं को एक निश्चित आकृति प्रदान करता है।

परमात्मा पर विश्वास करने और श्रद्धा रखने का तीसरा प्रमुख कारण है, जीवजगत की अद्‌भुत संरचना। प्रत्येक प्राणी को स्रष्टा ने उसकी आवश्यकता के अनुरूप ऐसी विशेषताएँ दे रखी हैं जिससे वह जीवनयापन कर सके और आने वाली कठिनाइयों से अपनी सुरक्षा कर सके। वैज्ञानिक भाषा में इस विशेषता को 'सहज ज्ञान' (इंस्टिंक्ट) कहते हैं। वैज्ञानिकों ने इस संबंध में अनेकों प्रयोग किए हैं। 'सालमन' नामक एक विशेष प्रकार की मछली को उसके जन्म स्थान से दूर समुद्र में ले जाकर छोड़ दिया जाए तो कुछ समय बाद वह पुनः धारा से उलटे चलती हुई समुद्र से जुड़ी नदियों के सहारे अपने मूल स्थान पर वापस लौट आती है। निश्चित स्थान पर पहुँचने में उससे कभी भूल नहीं होती।

'ईल' नामक मछली के भीतर यह विशेषता और भी अधिक मात्रा में पाई जाती है। यह जीवनपर्यंत प्रवासी जिंदगी व्यतीत करती है किंतु निर्धारित समय पर अपने दायित्वों को पूरे कर अंडे देती है, जहाँ कि टिड्डी का सुरक्षित मांस रखा होता है। अंडे से निकलने वाले बच्चों को ताजा मांस खाने के लिए अपने निकट ही मिल जाता है। यदि 'वास्प' नामक टिड्डे को अचेत न करके पूर्णतया मार दे

तो कुछ ही समय बाद टिड्डे का मांस विषाक्त हो जाएगा और इस योग्य नहीं बचेगा कि उसे अंडे से निकलने वाले खा सकें। यह सहज ज्ञान की प्रकृतिप्रदत्त विशेषता इस बात का परिचय देती है कि कोई समर्थ सत्ता ने समझ-बूझकर उनकी रचना की है और जीवनयापन के लिए आवश्यक विशेषताएँ प्रदान की हैं।

इसी प्रकार असंख्यों मनुष्येतर जीव अपने सहज ज्ञान के कारण ढर्रे का जीवन व्यतीत करते हैं। खाने-पीने और प्रजनन तक उनकी चेष्टाएँ सीमित रहती हैं, जबकि मनुष्य को विचारणा की बौद्धिक शक्ति अतिरिक्त रूप से मिली है। इसी का अवलंबन लेकर मनुष्य विकास की वर्तमान स्थिति तक पहुँच सका है।

प्रत्येक जीव के लिए समुचित आहार की पूर्व व्यवस्था का होना भी इस बात का प्रमाण है कि किसी अदृश्य सत्ता ने प्रत्येक जीव की आवश्यकता के अनुरूप ऐसी सुविधाएँ दे रखी हैं, जिससे वह भलीभाँति अपना भरण-पोषण कर सके। माँ के गर्भ में पलने वाले असहाय अबोध शिशु तक को पोषण अपने आप प्राप्त होता रहता है। शाकाहारी और मांसाहारी जीव प्रकृति-संपदा से अपने-अपने अनुरूप आहार प्राप्त करते रहते हैं। नभचर, जलचर और पृथ्वी पर रहने वाले समस्त जीव-जंतुओं को उनके अनुरूप भोजन प्राप्त हो जाता है।

प्रकृति के कार्य भी यह प्रमाण देते हैं कि सृष्टि की रचना किसी दूरदर्शी सत्ता ने की है। वह मात्र रचना ही नहीं करती वरन समय-समय पर नियमन और संतुलन का दायित्व भी सँभालती है। उपयोगी के अभिवर्द्धन और अनुपयोगी के काट-छाँट की प्रक्रिया भी स्रष्टा द्वारा प्रकृति में चलती दिखाई पड़ती है। बहुत समय पूर्व आस्ट्रेलिया के विभिन्न स्थानों पर बाड़ लगाने के लिए नागफनी के

पौधे लगाए गए। ये पौधे व्यापक क्षेत्र में फैल गए। स्थिति यहाँ तक जा पहुँची कि वहाँ के निवासियों के लिए कृषि करना भी कठिन हो गया। फसलों को ये पौधे नष्ट कर देते और अपना आधिपत्य जमा लेते। आस्ट्रेलिया के नागरिकों के समक्ष जीवनसंकट उपस्थित हो गया। जीव वैज्ञानिकों ने अपने गहन अध्ययन के उपरांत एक ऐसे कीड़े की खोज की जो मात्र नागफनी के पौधों को खाता था। एक कीड़े को लाकर उस क्षेत्र में छोड़ दिया गया। ये क़ीड़े भी द्रुतगति से बढ़ने लगे। कुछ ही समय में कीड़ों ने नागफनी पर विजय प्राप्त कर ली किंतु साथ ही इनका विस्तार भी अपने आप रुक गया।

रोकथाम एवं संतुलन की यह व्यवस्था सर्वत्र कार्य करती दिखाई पड़ती है। जिन कीड़ों की संतानोत्पादन की क्षमता जितनी अधिक है, वे उतनी ही शीघ्र समाप्त भी हो जाते हैं। उनके विस्तार एवं अभिवृद्धि पर प्रकृति का नियंत्रण न हो तो कुछ ही समय में समस्त भूमंडल पर वे छा जाएँगे किंतु ऐसा कभी नहीं होता। प्रकृति की कठोर नियमन व्यवस्था उनके विस्तार को रोकती है।

नियामक सत्ता के ऐसे अनेकों प्रमाण हमारे चारों ओर बिखरे पड़े हैं, जिनके द्वारा उसके अस्तित्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। प्रत्यक्ष दिखाई न पड़ना ही उसके न होने का प्रमाण नहीं है। दिखाई तो स्थूल वस्तुएँ पड़ती हैं शक्तियाँ नहीं। परमात्मा एक शक्ति है, कोई व्यक्ति अथवा वस्तु नहीं। बिजली, ऊष्मा, गुरुत्वाकर्षण, चुंबकत्व जैसी शक्तियाँ प्रत्यक्ष कहाँ दिखाई पड़ती हैं। उनकी प्रतिक्रियाओं द्वारा उनका प्रमाण मिलता है। दिखाई न पड़ने मात्र से कोई इनके अस्तित्व से इनकार नहीं कर सकता। सृष्टि की सुव्यवस्था और सुसंचालन को उसी सत्ता की साक्षी हेतु प्रमाणरूप

में देखा-समझा जा सकता है। परस्परावलंबन, सहकार, सद्भाव एवं संरक्षण के आधार पर इस समग्र सत्ता के विरूप को हृदयंगम किया जा सके तो आस्तिकता का तो पोषण होगा ही, मनुष्य के स्वयं के हित का मार्ग भी प्रशस्त होगा।

अनुशासन एवं संरक्षण

समष्टिगत सत्ता का समग्र कार्य-व्यापार जिस क्रमबद्ध, सुव्यवस्थित ढंग से संचालित हो रहा है, उसके मूल में दो गुणों को विशेष रूप से क्रियाशील होते देखा जा सकता है। वे व्यष्टि सत्ता पर भी लागू होते हैं एवं स्थूल रूप से दृश्यमान इस प्रकृति जगत पर भी। ये इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि परब्रह्म के नाम से जानी जाने वाली इस समष्टिगत सत्ता का हर कार्य अनुशासनबद्ध है, नियम विशेषों द्वारा संचालित है। किसी प्रकार की स्वच्छंदता की वहाँ कोई छूट नहीं। इसी प्रकार विधाता-परम पिता होने के नाते अपनी ही कृति के संरक्षण की भी यहाँ सुनियोजित व्यवस्था है। मानवी काया हो अथवा पृथ्वी का व्योममंडल, हर जगह ये नियम क्रियान्वित देखे जा सकते हैं। शरीर पर जो चमड़ी की परत चढ़ी है उसे संरक्षण कह सकते हैं। इससे भीतर की रक्त, मांस-संपदा को अपने स्थान पर बने रहने की सुरक्षा मिलती है। हवा में उड़ती रहने वाली विषाक्तता त्वचा के आवरण से ही भीतर नहीं पहुँच पाती अन्यथा धूलिकणों का सीधा प्रवेश रक्त-मांस तक जा पहुँचता और उस कोमल शरीर-संपदा को हँसते-हँसते विषाक्त एवं रुग्ण बनाकर रख देता। साथ ही यह भी आशंका बनी रहती है कि भीतर की वस्तु तनिक सा दबाव पड़ते ही बाहर निकलकर इधर-उधर छितराने लगती। त्वचा का संरक्षण ही है जो बहुमूल्य कायिक ढाँचे को सुसंचालित रखे रह रहा

है। यदि अभिभावकों का संरक्षण न हो तो शिशुओं का निर्वाण एवं भरण-पोषण किस प्रकार संभव हो? अनुशासन सिखाए बिना वे सभ्यता और शिक्षा का लाभ कैसे ले सकें? यही कारण है परब्रह्म की चेतन सत्ता में इन व्यवस्थाओं का प्रावधान है।

शासन देश का संरक्षण करता है और प्रजाजनों पर अनुशासन रखता है। नागरिकों को दुष्प्रवृत्तियों से रोकने और उपयुक्त क्रिया-कलाप अपनाने की प्रेरणा देना एवं व्यवस्था जुटाना शासन का काम है। यदि वह इतना न कर सके तो स्वयं नष्ट होगा और समूची प्रजा को ले डूबेगा। अनुशासन और संरक्षण की व्यवस्था बने रहने से ही व्यक्ति और समाज को मर्यादा में रहने और प्रगतिपथ पर अग्रसर होने का सुअवसर मिलता है। इन दो तत्त्वों को हटा दिया जाए तो फिर उच्छृंखलता, अव्यवस्था, विग्रह और विनाश के दृश्य ही उपस्थित होंगे।

न केवल मनुष्यों पर वरन समूची सृष्टि-व्यवस्था पर उन्हीं दो दबावों का आधिपत्य है। ब्रह्मांड के सभी ग्रह-तारक इसी आधार पर गतिशील रहते और अपने-अपने अस्तित्व की रक्षा करते हैं। इसमें तनिक भी शिथिलता आने लगे तो वे अपने कक्षाओं से भटककर जिधर-तिधर दौड़ने लगें—उन्हें परस्पर बाँधे रहने वाले अनुशासन आकर्षण समाप्त हो जाएँ। इस अराजकता में वे अपने अस्तित्व तक की रक्षा न कर सकेंगे। परस्पर टकराकर महाप्रलय का दृश्य उपस्थित करेंगे। ब्रह्मांड के सुसंचालन में अनेकानेक शक्तियाँ और व्यवस्थाएँ काम करती हैं। उन सबमें मूर्द्धन्य आधार दो ही हैं—संरक्षण और अनुशासन। इनकी स्थापना के उपरांत ही प्रगति एवं समृद्धि की अन्यान्य धाराओं का क्रियान्वित हो सकना संभव होता है।

अपनी पृथ्वी को ही लें। उसकी सत्ता और व्यवस्था के कण-कण में यही तथ्य दृष्टिगोचर होता है। जिधर भी दृष्टि डाली जाए उधर ही क्षण-क्षण में उसी संचालन सूत्र का परिचय मिलता है। जीवधारियों की अपनी नीतिमर्यादा है। जो उसे पालते हैं वे जीवित रहते हैं और प्रगति करते हैं। जो व्यतिक्रम पर उतारू होते हैं, उच्छृंखलता बरतते हैं, वे स्वयं नष्ट होते हैं और संबद्ध प्राणियों तथा पदार्थों के लिए संकट उत्पन्न करते हैं। अणु-परमाणुओं से लेकर रासायनिक परिवर्तनों तक के मध्य में उसी व्यवस्था का आधिपत्य है। समूचा लोक-व्यवहार इन्हीं सूत्रों पर आधारित है। शिथिलता एवं उच्छृंखलता उत्पन्न होते ही अनेकानेक समस्याएँ और विभीषिकाएँ सामने आ खड़ी होती हैं।

नियंत्रण भी प्रगति-प्रयासों के साथ जुड़ा रहता है। नर-नारी एकदूसरे के पूरक हैं। एक से दूसरे को अनेक सुख-सुविधाएँ मिलती हैं किंतु साथ ही सभी एकदूसरे की सुरक्षा रखते, संरक्षण रखते तथा भीतरी-बाहरी अवांछनीयता की रोकथाम करते हैं। दांपत्य जीवन के अनेक लाभों में सुरक्षा और सुव्यवस्था मुख्य है। उन्हें संरक्षण और अनुशासन भी कहा जा सकता है। इसे दोनों समान रूप से बरतते हैं। पत्नीव्रत और पतिव्रत इसी नैतिक सुनियोजन का नाम है।

पृथ्वी के ऊपर ८ किमी. से १६ किमी. तक जैसे-जैसे ऊपर बढ़ते हैं, तापक्रम कम हो जाता है और अंततः ४५ डिगरी सेग्रे. तक पहुँच जाता है। ८ किमी. से १६ किमी. का क्षेत्र ट्रोपोस्फीयर कहलाता है। इससे आगे स्ट्रैटोस्फीयर आरंभ होता है, जो ५० किमी. तक है। इस क्षेत्र में क्रमशः तापक्रम बढ़ता तथा ३८ डिगरी सेग्रे. तक जा पहुँचता है। ओजान की परत इसी क्षेत्र में होती है। ५० से १५० किमी. तक का क्षेत्र रेडियोएक्टिव क्षेत्र भी कहा जाता है। रेडियोएक्टिव

विकिरणों, कास्मिक किरणों का सर्वाधिक तरंगदैर्घ्य १८०० इस क्षेत्र में पाया जाता है।

यह एक प्रकार की संरक्षण परतें हैं, जिसके कारण अंतरिक्ष के विकिरणों का धरती पर अनावश्यक प्रवेश न हो सके। साथ ही धरती की ऊर्जा एवं संपदा आकाश में उड़कर नष्ट-भ्रष्ट न होने लगे।

वातावरण एक छाते की तरह है जो हमें हानिकारक अंतरिक्षीय विकिरणों से बचाता है। ओजोन जैसी सक्रिय गैसें अंतरिक्षीय विकिरणों को रोकती तथा उनके हानिकारक प्रभाव से हमारी सुरक्षा करती हैं। अमेरिकी सर्वेक्षण द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि ऊँची हवाई जहाजों की उड़ानों से ओजोन की मात्रा वातावरण में कम होती जा रही है जिससे रेडियोएक्टिव किरणें ओजोन परत को छोड़कर पृथ्वी पर आ रही हैं जिसके प्रभाव से चमड़ी में जलन, कैन्सर जैसी बीमारियाँ बढ़ रही हैं। पेड़-पौधों के विकास में बाधा पड़ती जा रही है। वातावरण में असामान्य परिवर्तन हो रहा है। सूखा, बाढ़, तूफान आने लगे हैं। ओजोन परत सूर्य से उत्सर्जित २९५० से ३२०० की तरंगदैर्घ्य वाली गामा किरणों को अवशोषित कर लेती हैं। सर्वविदित है कि 'गामा' किरणें विषैली होती हैं, पर सुपरसोनिक ट्रांसपोर्ट एयर क्राफ्ट इस ओजोन रक्षा कवच को क्षति पहुँचाते हैं। जहाजों की ऊँची उड़ानों को रोकने के लिए अमेरिका द्वारा एक प्रोग्राम क्लाईएटिक इंपैक्ट एससमेंट भी चलाया गया था। सुपरसोनिक ट्रांसपोर्ट से दो प्रकार की हानियाँ होती हैं—(१) यानों से निकलने वाली एक्जास्ट गैसें (नाइट्रस ऑक्साइड एवं नाइट्रिक ऑक्साइड) ओजोन से मिलकर ऑक्सीजन बनाती हैं। (२) ऊँची उड़ान भरने वाला कान्कर्डयान ऐरोसाल स्प्रे निकालता है, जिसमें क्लोरीन की बहुलता होती है जो ओजोन के साथ क्रियाशील होकर ऑक्सीजन बनाता है। इस प्रकार

ओजोन की रक्षा-परत नष्ट होती जाती है। इस स्थिति को देखते हुए अमेरिकी सरकार ने कान्कर्ड विमानों को अपने ऊपर से उड़ान भरने से रोक लगा दी है।

वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि घटती हुई ओजोन की मात्रा मानव जाति के लिए हानिकारक सिद्ध होती है। वातावरण में एक प्रतिशत ओजान की कमी होने से रेडियोएक्टिव विकिरण जिसे यू. पी. वी. फ्लक्स कहते हैं दुगना हो जाता है, जिसके फलस्वरूप प्रतिवर्ष १,००,००० व्यक्ति कैन्सर के शिकार होते हैं। ओजोन की कमी के कारण पौधों में प्रकाश संश्लेषण की क्रिया धीमी हो जाती है जिसके कारण उनकी वृद्धि रुक जाती है। वातावरण में असंतुलन पैदा होता है। यह वस्तुतः संरक्षण परतों से छेड़छाड़ एवं अनुशासन उल्लंघन का परिणाम है।

सृष्टिक्रम एवं पृथ्वी का वातावरण एक संरक्षण नियंत्रण व्यवस्था के अंतर्गत ही सुरक्षित एवं गतिशील है। यदि इस व्यवस्था को सृजेता की 'इकॉलाजी' व्यवस्था का अंग मानते हुए अस्त-व्यस्त न किया जाए तो समग्र जीव जगत इसका भरपूर लाभ उठाते रह सकता है। बढ़ती विभीषिकाएँ एवं रुग्णता के प्रकोप उस राजीनामे के उल्लंघन का ही परिणाम हैं जो व्यष्टि एवं समष्टि के मध्य हुआ माना जाता है। पर्यावरण संतुलन के दोनों ही रूप संरक्षण-अनुशासन के रूप में विधेयात्मक एवं प्राकृतिक-प्रकोपों, रोग-महामारियों के रूप में निषेधात्मक यही प्रमाणित करते हैं कि सुव्यवस्था एवं संतुलन की पर्याय इस सृष्टि को चलाने वाली एक नियामक सत्ता है। यही प्यार भी करती है एवं उद्दंडता बरतने पर आँखें भी तरेरती है।

❒

सबके लिए एकसे नियम एकसा नियतिचक्र

चेतनसत्ता के सभी घटक एक ही नियम-व्यवस्था में बँधे होने के प्रमाणों से विदित होता है कि एक ही शक्ति इनका सुसंचालन कर रही है। जड़-चेतन सभी विराट चेतना के अभिन्न अंग हैं और एक नियतिचक्र में बँधे एकदूसरे पर इस प्रकार निर्भर हैं कि न केवल वे एकदूसरे से प्रभावित होते हैं, वरन दूसरों को प्रभावित भी करते हैं।

जिन्हें हम अज्ञ या अल्पज्ञ समझते हैं, वे छोटे-छोटे जीव-जंतु तक साधारण से प्रकृति परिवर्तनों से प्रभावित होते, उन्हें पहचानते हैं। इन जंतुओं को पहचानने की क्षमता या संवेदनशीलता किस प्रकार काम करती है? यह जानने के लिए कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के जीववेत्ता डॉ. जैनट हार्कर ने तिलचट्टों पर कुछ प्रयोग किए। तिलचट्टे रात के अँधेरे में ही अपनी दिनचर्या आरंभ करते हैं और सूरज अस्त हो जाने के बाद ही अपने घरों से निकलते हैं। सूर्य अस्त हो जाने और अँधेरा घिर आने का संकेत देने वाला केंद्र इनके सिर में होता है। इस तथ्य को जाँचने के लिए डॉ. हार्कर ने एक तिलचट्टे का सिर काट दिया और धड़ से अलग कर दिया। इस स्थिति में तिलचट्टे को निश्चित ही मर जाना चाहिए था, परंतु आश्चर्य की बात थी कि वह जीवित था। उस सिरकटे तिलचट्टे की पीठ पर एक पैर कटा तिलचट्टा बाँधा गया, जिसका सिर सही सलामत था और उन दोनों के शरीर में छेद कर दोनों की काया को एक नली द्वारा जोड़ दिया गया, जिससे ऊपर वाले तिलचट्टे का रक्त नीचे वाले सिरकटे तिलचट्टे के शरीर में जाने लगा।

ऐसा इसलिए किया गया था ताकि पता लगाया जा सके कि क्या सूरज डूबने और अँधेरा होने का संबंध-परिचय केवल मस्तिष्कीय केंद्र को ही मिलता है अथवा शरीर के अन्य अंग-अवयव भी इस तरह की सूचना देते या परिवर्तनों को पहचानते हैं। एक आश्चर्य तो यही था कि तिलचट्टा जीवित था, दूसरा आश्चर्य यह था कि सिर कटे हुए तिलचट्टे को भी सूरज डूबने पर पता चल गया कि सूरज अस्त हो चुका है और वह अपनी दैनिक दिनचर्या की तरह घोषणा करने के लिए कसमसाने लगा।

ऐसा कैसे संभव हुआ ? यह जानने के लिए किए गए अनुसंधानों से पता चला कि तिलचट्टे के सिर में एक विशेष प्रकार का हारमोन होता है जो उसे इस बात की सूचना देता है कि सूरज अस्त हो गया है। आगे के शोध प्रयोग जारी रखते हुए श्रीमती हार्कर ने तिलचट्टों को दो समूहों में बाँट दिया। एक समूह के तिलचट्टों को तो सामान्य परिस्थितियों में रखा गया, किंतु दूसरे समूह के तिलचट्टों को दिन भर कृत्रिम अंधकार पैदा कर तथा रात्रि में कृत्रिम रोशनी के बीच रखा गया। देखने में आया कि उससे तिलचट्टों के क्रिया-कलापों में यह अंतर आया है कि वे कृत्रिम रोशनी को दिन समझकर रात में भी दिन की तरह रहते थे तथा दिन में पैदा किए गए कृत्रिम अंधकार में रात की तरह हरकतें करने लगते। इन तिलचट्टों के सिर की वे गुच्छिकाएँ निकालकर सामान्य तिलचट्टों के सिर में फिट कर दी गईं। उनके सिर की सामान्य गुच्छिका संकेत देतीं कि दिन है तो भ्रम में रखे गए तिलचट्टों की गुच्छिका रात का संकेत देतीं। इस व्यतिक्रम को सामान्य तिलचट्टे अधिक न सह पाए और थोड़े ही दिनों में मर गए।

इन प्रयोगों के आधार पर डॉ. जैनर ने प्रतिपादित किया है कि प्रकृति के किसी भी कार्य में हस्तक्षेप करना संकटों को आमंत्रण देना है। प्रकृति ने सभी प्राणियों को नियतिचक्र पहचानने और उनके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने की सुविधा दे रखी है। उनमें कोई हस्तक्षेप करता है या व्यवधान आता है तो उसका प्रभाव निश्चित रूप से अनिष्टकर होता है।

प्रकृति परिवर्तनों का बोध मस्तिष्क वाले अर्थात तंत्रिका संस्थान युक्त शरीर रचना वाले प्राणियों को ही होता हो और तंत्रिका-विहीनों को नहीं होता हो सो ऐसी बात भी नहीं है। पृथ्वी पर विद्यमान सबसे लघुकाय प्राणियों एवं कोशीय जीवों तक को इसका पता चल जाता है। 'यूग्लीना' नामक एककोशीय जीव जिसे अमीबा की तरह न वनस्पति वर्ग में रखा जा सकता है और न ही जंतु वर्ग पर प्रयोग करने में यही तथ्य सामने आया है। यूग्लीना की एककोशीय काया में भरा द्रव्य सूरज की धूप से ऊर्जाकर्षित कर अपना काम चलाता है। ऊर्जा को खींचते समय उसकी एक अति सूक्ष्म चाबुक जैसी पूँछ जिसे कशामिक कहा जाता है, इधर-उधर घूमती है। दिन में वह सूरज से ऊर्जा प्राप्त करता है और रात्रि में अपने आस-पास के अन्य एककोशीय जीवों को अपना आहार बनाता है।

यूग्लीना की कशामिका प्रकाश के प्रति अति संवेदी होती है। जैसे ही प्रकाश होता है यह एक सेकंड में बारह बार फड़कती है और सूर्यास्त होते ही निष्क्रिय हो जाती है। सूर्य प्रकाश को पहचानने की अद्‌भुत क्षमता इस जीव में होती है। आँखों से न दिखाई देने वाले इस नन्हे से जीव को जब कृत्रिम रोशनी में रखा गया तो उसमें कोई हलचल नहीं हुई और जब दिन के समय अँधेरे में रखा गया तो

कशामिका उसी प्रकार घूमने-फड़कने लगी जैसे कि वह सूर्य प्रकाश के समय फड़कती थी।

एक बटा दस इंच के लगभग आकार वाली वोल्वाक्स वनस्पति समुद्र में होती है। इसमें भी यूग्लीना की तरह कशामिकाएँ या पूँछ होती हैं लेकिन यह शैवाल अपनी पूँछों से दूसरा ही काम लेता है, वह है—समुद्र में तैरने का। इन कशामिकाओं को दाएँ-बाएँ फेंककर वह पानी में तैरता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक जे. डी. पालमर इनका अध्ययन कर रहे थे तो अचानक उनके दिमाग में यह बात आई कि क्या इन पर पृथ्वी के चुंबकीय बलों का कोई प्रभाव होता है? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए उन्होंने कुछ वोल्वाक्सों को परीक्षण के लिए चुना। उनमें से एक तिहाई को तो सामान्य स्थिति में रखा गया और एक तिहाई को उत्तर-दक्षिण दिशा में झूलती हुई चुंबकीय छड़ के नीचे रखा गया। शेष एक तिहाई को ऐसी छड़ के सामने रखा गया जो पूर्व-पश्चिम दिशा में झूल रही थी। इस छड़ का चुंबकीय बल पृथ्वी के चुंबकीय बल से तीस गुना अधिक था। जिन वोल्वाक्सों को पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र के बराबर वाली छड़ के नीचे रखा गया था, वे तो सामान्य क्रम से उसी दिशा में मुड़े परंतु जिन्हें प्रतिकूल दिशा में रखी गई चुंबकीय छड़ के नीचे रखा गया था, उनमें आधे भी उस छड़ की दिशा में नहीं गए थे। इस तरह के अनेक प्रयोगों द्वारा पालमर ने यह निष्कर्ष निकाला कि ये छोटे-छोटे जीव-जंतु न केवल पृथ्वी की चुंबकीय क्षमता से प्रभावित होते हैं बल्कि उन्हें पहचानते भी हैं।

प्रकृति नियमों का पालन सूक्ष्म जीवों से लेकर बड़े जंतु और वनस्पति तक बड़ी कड़ाई के साथ करते हैं। इसे यों भी कहा जा

सकता है कि जीव-जंतु और वृक्ष-वनस्पति तक प्रकृति के सामान्य से सामान्य नियमों से प्रभावित होते हैं। डॉ. फ्रेंक ब्राउन ने पिछले कई वर्षों से इस दिशा में गहन शोध अध्ययन किया है और पाया है कि प्रकृति परिवार का प्रत्येक सदस्य एक नियतिचक्र में बँधा अपने क्रिया-कलाप संपन्न करता है।

सूरजमुखी का फूल तो सूरज की ओर ताकता, निहारता ही रहता है। कीचड़ में पैदा होने और पलने वाला एक घोंघा 'नासारिअस ओब्सोलिश' भी सूर्य के साथ-साथ चलता है। डॉ. ब्राउन ने इंग्लैंड के समुद्री तट पर कोई ३४००० घोंघों का अध्ययन-निरीक्षण किया तथा पाया कि ये घोंघे सुबह से शाम तक पूर्व से पश्चिम की ओर ही अपनी गति दिशा रखते हैं। उन्हें ऐसी स्थिति में भी रखा गया, जहाँ कि उन्हें सूर्य के उगने और दिन-दोपहर में आकाश के बीचोंबीच आने तथा बाद में ढलने का पता ही नहीं चले। इस प्रकार की व्यवस्था द्वारा उत्पन्न किए गए अवरोध से वे अप्रभावित ही रहे। रात में जब कभी उन्हें चलना होता है तो वे चंद्रमा से प्रभावित होकर उसी दिशा में बढ़ते हैं। अमावस्या के दिन तो वे एक तरह से छुट्टी ही मनाते हैं।

ग्रुनिअन नामक एक समुद्री मछली तो पूरी तरह चंद्रमा के साथ अपनी जीवनचर्या व्यतीत करती है। पूर्णिमा के दिन जब समुद्र में ज्वार आता है या पानी की लहरें अपेक्षाकृत अधिक दूरी तक जमीन पर पहुँचती हैं तो ये मछलियाँ उन लहरों के साथ अपने अंडे लेकर तट पर आतीं तथा बालू पर छोड़ जाती हैं। अटलांटिक महासागर में पाई जाने वाली सीपियाँ केवल पूर्णमासी के दिन ही अपना मुँह खोलती हैं। कहीं ऐसा समुद्र में उठने वाले ज्वार के प्रभाव से तो

नहीं होता, यह सोचकर डॉ. ब्राउन ने कुछ सीपियाँ प्रयोगशाला में टव के भीतर पानी भरकर उनमें रखीं। वहाँ भी उन्होंने पूर्णमासी के दिन ही अपना मुँह खोला जबकि टव में ज्वार आने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था।

सूर्य और चंद्रमा के मानव शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर डॉ. एडसन एंड्रूज ने कहा है कि मनुष्य भले ही अपने आप को स्वतंत्र समझे परंतु उसका शरीर जिन पंचतत्त्वों से बना है, वे पंचतत्त्व ब्रह्मांडीय हलचलों से प्रभावित होते हैं तथा उनका असर मनुष्य के जीवन पर भी पड़ता है।

एक जैविक घड़ी, अंत:प्रेरणा के सहारे जीव-जंतु किस प्रकार अपने क्रिया-कलाप चलाते हैं, इसे प्रमाणित करने के लिए सुप्रसिद्ध जीवशास्त्री जोन एच. टाड ने एक बार मछलियों पर एक प्रयोग किया। मछलियाँ एक नियत समय पर अपने सामान्य निवास से चलकर किसी विशेष स्थल में आकर अंडे देती हैं। विकसित होने के बाद उनके बच्चे स्वयं ही अपने माता-पिता की जन्मभूमि को लौट आते हैं, वे किस बौद्धिक सूझ-बूझ और अंत:प्रेरणा से ऐसा करती हैं यह जानने के लिए ही यह प्रयोग किया गया था। प्रयोग के समय जहाँ मछलियाँ थीं उस स्थान को घेर दिया गया और उस स्थान का संबंध एक कुएँ से जोड़ दिया गया। ऐसा करने पर भी वे मछलियाँ कुएँ की ओर नहीं गईं, अपितु उस रासायनिक संकेत के सहारे ही समुद्री धारा में बढ़ने लगीं जिधर उन्हें अंडे देने जाना होता है। अपने स्थान पर लौटने या नए स्थान जाने के अतिरिक्त भी मछलियों की एक रासायनिक भाषा होती है, जिसमें वे सजातियों को सामाजिक व्यवस्था की जानकारी देती रहती हैं।

प्रकृति जगत में लागू होने वाले अनुशासनों में समय का परिपालन एक ऐसा अंकुश है, जिसे सभी जीव स्वीकारते हैं। नियमितता का अर्थ है—हर काम को यथासमय बिना आलस्य-प्रमाद अपनाए संपन्न करना। इसी आधार पर समस्त सृष्टिक्रम चल रहा है। प्रकृति ने इस परिपालन के लिए हर किसी को एक ऐसी घड़ी दी है जिसके सहारे उसे न केवल समय का सही-सही ज्ञान होता रहे वरन ठीक समय पर ठीक काम करने की प्रेरणा भी उठती रहे।

जीवधारी इसी आधार पर अपनी सुनियोजित जीवनचर्या चलाते हैं। हर प्राणी की काया भी अपने नित्यकर्म एवं प्रवाह निर्धारण में इसी प्रकाश का अवलंबन किए रहती है। उसकी स्थिरता एवं प्रगति का यही प्रधान आधार होता है। व्यतिक्रम जहाँ भी जिस अनुपात में भी प्रस्तुत होता है, वहाँ उसी परिमाण में विग्रह एवं संकट सामने आ खड़ा होता है। कालचक्र का अनुगमन नियमितता का परिपालन किसी प्रकार इस समूची सृष्टि-व्यवस्था के अंतराल में चल रहा है और प्राणि वर्ग किसी प्रकार उस अनुबंध का शिरोधार्य करके चल रहा है। यह द्रष्टव्य है।

घड़ियाँ तो हमने कई प्रकार की सुनी हैं। बहुत से लोग धूप और तारों की स्थिति देखकर समय का अंदाजा लगाते हैं। ठीक है मनुष्य के पास बुद्धि है, वह सोच सकता है। आजकल तो बिना घड़ी के काम ही नहीं चल सकता, समय का ठीक-ठीक हिसाब रखने के लिए मनुष्य घड़ियों का निर्माण और उसमें सुधार करता रहा है। आज उसके पास ऐसी घड़ियाँ हैं जो लाखों साल में भी एकाध सेकंड से अधिक की गलती नहीं करतीं परंतु पेड़-पौधे और

अन्य जीवधारी कैसे समय का हिसाब रखते हैं और उन्हें यह कैसे पता लगता है कि अब दिन का कौन सा समय है? इसका उत्तर जानने के लिए बहुत से जैव वैज्ञानिक अनुसंधान कर रहे हैं।

यह सर्वविदित है कि कुछ जीवधारी रात की अपेक्षा दिन में अधिक क्रियाशील होते हैं। सत्य तो यह है कि संभवतः ऐसा कोई भी पौधा अथवा जीवधारी नहीं होगा जिसके जीवन का कार्यक्रम एकदम घड़ी की सुइयों के समान न होता हो।

समझा जाता है कि जीवित पदार्थों की प्रतिदिन के कार्यक्रम की लयबद्धता वातावरण के सीधे जीवाणुओं पर प्रभाव डालने के कारण होती होगी। एक मान्यता यह भी है कि तापक्रम अधिकांश जैविक प्रतिक्रयाओं की गति को प्रभावित करता है। यह सोचना असंगत नहीं होगा कि दिन और रात्रि के चक्र भी जीवाणुओं की क्रियाशीलता में विविधता लाते हैं।

बात इतने तक ही सीमित नहीं है। गहन अनुसंधान इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि जीवाणुओं, पशु तथा पौधों में निश्चित रूप से एक जैविक घड़ी पाई जाती है। जैविक घड़ी कुछ इस प्रकार की वस्तु है जो जीवधारियों तथा पौधों में निहित होती है। इस घड़ी द्वारा जीव-जंतु अपने वातावरण के तालबद्ध परिवर्तन को पूर्वाभासित कर लेते हैं तथा उसी के अनुसार अपने को ढाल लेते हैं।

यह बात तो हम अपने अनुभव से भी जानते हैं कि समय की गतिविधि का ज्ञान आंतरिक संवेदना से ही जाना जाता है न कि सुई वाली घड़ी से। समयानुसार ही शरीर की क्रियात्मक विधियों में परिवर्तन होते हैं। हमारी नाड़ी की गति, गुरदों की क्रिया, शरीर का तापक्रम—यह सब दैनिक लयबद्धता दर्शित करती है। यह लयबद्धता

किसी भी तरह से हमारे वातावरण के परिवर्तन की सहज क्रिया नहीं है।

जैविक घड़ियों का अध्ययन निम्न जाति के तंतुओं में अधिक सरलता से किया जा सकता है, यह अनुसंधान इन दिनों संसार की कई प्रयोगशालाओं में किया जा रहा है।

फलमक्खी (ड्रेसोफिल) अपना जीवन एक सूड़ी के रूप में प्रारंभ करती है। इसके उपरांत कोश विकसित होता है, तदुपरांत पूर्ण फलमक्खी बन जाती है। सामान्यतः मधुमक्खियाँ कोश से पूर्ण मक्खी प्रातःकाल में बनती हैं।

वास्तव में यह है भी आवश्यक, क्योंकि नवजात फलमक्खी का बाह्य चर्म बहुत ही मुलायम होता है जिससे पानी जल्दी ही वाष्पित होकर उड़ सकता है और बाह्य चर्म बड़ी ही जल्दी कठोर हो जाता है, पर यदि फलमक्खी दोपहर में जन्म ले तो उसके बाह्य चर्म कठोर होने से पहले ही पानी उड़ जाएगा, क्योंकि दोपहर के समय नमी कम और गरमी ज्यादा होती है, इसके अलावा हवा में नमी की कमी के कारण पंख भी भली प्रकार नहीं फैल पाएँगे। अतः कोश प्रातःकाल जो औसतन दिन का सबसे आर्द्र एवं ठंढा समय होता है, के समय परिपक्व होकर निकलते हैं। यह यथासमय उत्पत्ति जैविक घड़ी द्वारा ही संचालित होती है।

यह तो जैविक घड़ी का एक ही उदाहरण है परंतु अन्य सभी प्रमाण एक ही निष्कर्ष की ओर संकेत करते हैं। व्यावहारिक रूप से सभी मुख्य समूहों के जीवाणुओं (केवल बैक्टीरिया को छोड़कर) में यह जैविक घड़ियाँ किसी न किसी रूप में पाई जाती हैं और सभी प्रकार की क्रियाओं का नियंत्रण करती हैं। इस भूमंडल पर जिन

जीव-जंतुओं का विकास होता है तथा उनके सम्मुख जो विभिन्न दैनिक स्थितियाँ आती हैं, उनके प्रत्युत्तर में वे अपने जीवनक्रम को वातावरण के अनुरूप ढालने में प्रयत्नशील होते हैं। अगर वे इस प्रकार न करें तो वातावरण उनको विषम परिस्थितियों में ढालकर झकझोर दे और तोड़-मरोड़कर रख दे।

अनेकों वैज्ञानिक उद्धरण ग्रंथों में पृथ्वी के वातावरण, जीवों, वृक्ष-वनस्पतियों पर ग्रह-नक्षत्रों के पड़ने के मिलते हैं। प्राणी जीवन की एक घड़ी होती है जिसे 'बायोलॉजिकल क्लॉक' कहते हैं। इस घड़ी पर सूर्य, चंद्रमा आदि ग्रहों के प्रभाव होने का पता चलता है। वैज्ञानिक फ्रेंक ए. ब्राउन ने सिद्ध किया है कि मटर के दाने, आलू, चूहे, केकड़े, सीपियाँ सभी की भीतरी घड़ियाँ सूरज और चंद्रमा की स्थिति से प्रभावित होती हैं। इन प्रभावों का रोशनी से कोई संबंध नहीं है। यदि इन जीवों को अँधेरे में बंद कर दें, तब भी सूर्य और चंद्र की गति के अनुसार उनका क्रम चलता रहेगा। पड़वा के चाँद में गतिविधि सर्वाधिक शिथिल और पूर्णिमा के चाँद में सबसे अधिक सक्रिय होती है। सीपियाँ चंद्रमा की कलाओं के अनुसार खुलती-बंद होती हैं। ब्राउन ने समुद्र से हजारों मील दूर अँधेरे में रखकर दिखाया कि वहाँ भी चंद्रमा की स्थिति के अनुरूप ही सीपियाँ खुलती-बंद होती हैं।

फ्रीवर्ग यूनिवर्सिटी के डॉ. ई. एफ. जी. सौर ने वर्वलर नामक छोटे से पक्षी का अध्ययन किया। ये पक्षी ग्रीष्म ऋतु के अंत में दक्षिण दिशा से होते हुए यूरोप से अफ्रीका की यात्रा करते हैं। एक रात में सौ-सौ मील की यात्रा करते हैं। वसंत में उत्तर की ओर यात्रा करते तथा वहीं अंडे देते एवं सेते हैं। अगले ग्रीष्म में बच्चों सहित

शीतकाल अफ्रीका में बिताने के लिए निकल पड़ते हैं। डॉ. सौर ने कुछ अंडों को ध्वनि निरोधी कक्षा में सेकर उनसे निकले बच्चों को वहीं एक कमरे में बंद रखा तथा आहार देते रहे। पूरे वर्ष उन्हें गरमी उसी प्रकार मिलती रही जैसे कि वे अफ्रीका में रह रहे हों किंतु जैसे ही हेमंत ऋतु आई, कमरे में बंद पक्षी बेचैन हो उठे, बाहर निकलने के लिए फड़फड़ाने लगे। उनकी विचित्र गतिविधियाँ तब जाकर रुकीं, जब वे अफ्रीका पहुँच गए। पुनः वसंत आने पर पुनः वापस लौटने के लिए पक्षी बेचैन हो उठे। यह इस बात का प्रतीक है कि पक्षियों में मौसम एवं स्थान की जानकारी बाह्य वातावरण से नहीं, उनकी अंतः संरचना के आधार पर प्राप्त होती है।

उत्तरी ध्रुव में पैदा होने वाले 'टर्न' पक्षी भी छह हफ्ते के होते ही ११००० मील की यात्रा पूरी करके दक्षिणी ध्रुव पर पहुँच जाते हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में जब दिन छोटे होने लगते हैं तो पुनः वापस उत्तरी ध्रुव पर पहुँच जाते हैं। साइबेरिया से भी हजारों पक्षी भारत जाड़े में आते हैं।

प्रवासी पक्षी विशाल भूखंडों, पर्वतों एवं सागरों के ऊपर उड़ते हुए बिना किसी दिशासूचक यंत्र, मानचित्र या पथप्रदर्शक की सहायता से अपनी यात्रा पूरी करते हैं। कुछ पक्षी केवल दिन में, कुछ केवल रात्रि में और बहुत से दोनों समय यात्रा करते हैं। फ्लडरक्रैव नामक केकड़ा अपने पंजे वायलिन की तरह उठाए रहता है। प्रत्येक सुबह सूरज निकलते ही केकड़े की त्वचा श्यामल होने लगती है। दोपहर तक त्वचा काली हो जाती है। शाम होते ही त्वचा का रंग उड़ने लगता है। बंद अँधेरे कमरे में भी रखा गया तो देखा गया कि बिना सूर्य की रोशनी के प्रभाव के भी उसी प्रकार के परिवर्तन होते

हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि सूर्य की गति को जानने का कोई विशिष्ट यंत्र इन छोटे जीवधारियों में होता है जो धूप-छाँव या अन्य किसी मनुष्य द्वारा निर्मित घड़ी की बिना सहायता के ही अपना नियमित क्रिया-कलाप विधिवत यथासमय चलाते रहते हैं।

करोड़ों वर्षों से प्राणियों की जीवन-संचार-प्रक्रिया एक क्रमबद्ध, तालबद्ध, समयबद्ध, विधि-व्यवस्था के साथ जुड़ी चली आ रही है और नियति के अनुशासन का विधिवत पालन करते हुए अपना निर्वाहक्रम बनाए रख रही है। यह अनुशासन धरती की चुंबक शक्ति का है या सूर्य की ताप ऊर्जा का अथवा प्राणियों की स्वतंत्र चेतना का, यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। हो सकता है इस व्यवस्था में उपरोक्त तीनों ही तथ्यों का समन्वय-समावेश हो।

कालचक्र के अंतर्गत इस सृष्टि का सूत्र-संचालन एवं नियमन करने वाली अदृश्य शक्ति को 'महाकाल' कहा गया है। उसकी इच्छा और व्यवस्था यही है कि हर किसी को मर्यादा में चलना चाहिए और समय संबंधी नियमितता का सतर्कतापूर्वक पालन करना चाहिए। व्यवस्था का यह सारा सरंजाम जुटाने वाली सत्ता एक ही है जो ग्रह-नक्षत्रों से लेकर जीव-जंतु—मानव समुदाय को प्रभावित करने की क्षमता रखती है। इकॉलाजी विज्ञान के अंतर्गत इसी के विभिन्न पक्षों का ऊहापोह होता रहता है।

सितंबर के प्रथम सप्ताह में भारत में ऐसे अनेक रंग-बिरंगे पक्षी दिखाई पड़ते हैं जो गरमी और बरसात में नहीं थे। ये पक्षी जर्मनी, साईबेरिया, चीन, तिब्बत आदि सुदूर देशों से हजारों मील की लंबी यात्रा करके आते हैं। तिधारी, चैती, हंसक, पैतरा, सुरखाव,

लालसर आदि प्रमुख हैं। इनमें पैर के अँगूठे के बराबर 'स्वेटपेनिकल' जैसे छोटे और २५ पौंड भारी आदमकद सारस जैसे बड़े पक्षी भी होते हैं। यह लंबी यात्रा सप्ताहों तथा महीनों की होती है।

इन पक्षियों की लंबी यात्राएँ, ऊँची उड़ानें आश्चर्यजनक हैं। गोल्डन फ्लावर पक्षी अमेरिका से चलते हैं। पतझड़ में भारत में विश्राम करते हैं फिर थकान मिटाकर अटलांटिक और दक्षिण महासागर पार करते हुए दक्षिण अमेरिका जा पहुँचते हैं। आते समय वे समुद्र के ऊपर से उड़ते हैं और जाते समय जमीन के रास्ते लौटते हैं। अलास्का में उनके घोंसले होते हैं और वहीं अंडे देते हैं। हर वर्ष प्रायः वह दो-ढाई हजार मील की यात्रा करते हैं। पृथ्वी की परिक्रमा तीन हजार मील की है। इस प्रकार वे लगभग पृथ्वी की एक परिक्रमा हर वर्ष पूरी करते हैं। आर्कटिक टिटहरी इन सब घुमक्कड़ पक्षियों से आगे है। उत्तरी ध्रुव के समीप उसका घोंसला होता है। पतझर में वह दक्षिण ध्रुव जा पहुँचती है। वसंत में फिर वापस उत्तरी ध्रुव लौट आती है। जर्मनी के बगुले ४ महीने में करीब ४००० मील का सफर पूरा करते हैं। रूसी बत्तखें भी ५००० मील की लंबी यात्राएँ करती हैं। यह पक्षी औसतन २०० मील की यात्रा हर रोज करते हैं। टर्नस्टान इन सबसे अधिक उड़ती है, उसकी दैनिक उड़ान ५०० मील के करीब तक की होती है साथ ही उसका १७ हजार फीट की ऊँचाई पर उड़ना और भी अधिक आश्चर्यजनक है। हाँ, समुद्र पार करते समय उड़ने की ऊँचाई तीन हजार फीट से अधिक नहीं होती। ❒

सद्भाव एवं सहकार पर चल रहा ब्राह्मी चेतना का विराट परिवार

सर्वत्र सब प्राणियों में व्याप्त ईश्वरीय सत्ता के दर्शन स्थूल नेत्रों से नहीं किए जा सकते उसका दर्शन और आनंद पाने तथा लाभ उठाने के लिए तो अपनी ही अंतश्चेतना को विकसित करना होगा। अंतश्चेतना को विकसित करने का आधार अपने स्वार्थों की संकीर्ण सीमा तोड़कर समष्टि चेतना तक अपनी भाव की परिधि व्यापक बनाना है। अपने ही समान आत्मा है, सबमें एक ही परमात्मा का वास है—आस्थाओं का विकास जब इस स्तर तक कर लिया जाता है तो व्यक्ति ईश्वर सामीप्य की आनंदानुभूति करने योग्य बन जाता है।

यदि स्वार्थों और क्षुद्र वासनाओं के कारण दिग्भ्रांत न हुआ जाए तो व्यक्ति का मूल स्वभाव सबके साथ तादात्म्य स्थापित करने का है। लेकिन स्वार्थ और वासनाओं के कारण ही व्यक्तिवाद, मोह, स्वजनों में आसक्ति आदि के दोष उत्पन्न होते हैं। पिछले दिनों दर्शन क्षेत्र में इसी आधार पर उपयोगितावादी विचारधारा की प्रतिष्ठापना की गई।

उपयोगितावादी (यूटिलिटेरियनिज्म) दर्शन के विश्वविख्यात प्रवर्तक जान स्टुअर्ट मिल ने अपने सिद्धांत की व्याख्या करते हुए लिखा है, "संसार में सबको सुख या आनंद की खोज है, सुख जीवन का लक्ष्य है और यह स्वाभाविक है कि मनुष्य आजीवन उसकी खोज करे। कई बार ऐसी परिस्थिति आती हैं, जब हमें एक सुख दूसरे से अधिक अच्छा लगे तो हमारे लिए वही इष्ट हो जाता है, भले ही उसको प्राप्त करने में अशांति का सामना करना पड़े। मनुष्य सुख चाहता है, वस्तुएँ चूँकि उन सुखों की माध्यम हैं,

इसलिए हम वस्तुओं का संग्रह करते समय भी केवल सुखप्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि आनंद मनुष्य जीवन में प्रमुख है आचरण अप्रमुख।''

अर्थात यदि मांस खाने से सुख की वृद्धि हो सकती है तो मांस खाना बुरा नहीं। यदि कामवासना की अधिक तृप्ति के लिए सामाजिक मर्यादाएँ तोड़ी जा सकती हैं तो वैसा करना पाप नहीं। धन अधिक और अधिक सुख देने में सहायक है, इसलिए अधिकाधिक धन कमाने में यदि प्रत्यक्ष किसी पर दबाव न पड़ता हो तो वैसा किया जा सकता है, अर्थात झूठ बोलकर, कम तोलकर, मिलावट आदि जितने भी व्यापार के भ्रष्ट नियम हैं, वह पाप नहीं हैं यदि हमारे सुख की मात्रा उससे बढ़ती हो। बड़ी बलवान शक्तियों द्वारा कमजोर छोटी शक्तियों का शोषण इस सिद्धांत का ही समर्थित व्यवहार है। जान स्टुअर्ट और उनके सब अनुयायी इसके लिए प्रकृति को प्रत्यक्ष स्वायंभू उदाहरण देते हैं और कहते हैं, ''बड़ी मछली छोटी को खाकर अपनी शक्ति बढ़ाती है। बड़ा वृक्ष भी छोटे की खुराक हड़प कर लेता है आदि। इन सब बातों को देखकर मनुष्य के लिए भी उपयोगितावादी सिद्धांत का समर्थन होता है।''

जहाँ तक सुख की चाह का प्रश्न है, जॉन स्टुअर्ट के सिद्धांत का कोई भी विचारशील व्यक्ति खंडन नहीं करेगा। हम दिन-रात आनंद के लिए भटकते हैं पर हमने शुद्ध आनंद की व्याख्या और उसकी प्राप्ति के प्रयत्न किए कहाँ? दुःख के प्रमुख कारण हैं— (१) अशक्ति (२) अज्ञान और (३) अभाव। यदि संपूर्ण जीवन को इकाई मानकर देखें और इन तीनों कारणों को दूर करने के प्रयत्नों पर विचार करें तो संयम, स्वाध्याय आदि के द्वारा ज्ञानवृद्धि और श्रम एवं क्रमिक विकास ही वह उपयुक्त साधन दिखाई देते हैं, जिनके अभ्यास से उन्हें दूर किया जा सकता है और आनंदप्राप्ति की अपनी क्षमताओं का विकास किया जा सकता है।

आनंदवृद्धि के लिए उपयोगितावादी सिद्धांत हमें निरंतर भौतिकता की ओर अग्रसर करते हैं और हमारी आध्यात्मिक आवश्यकताओं को उस तरह भुलावा देते हैं जैसे रेगिस्तान के शुतुर्मुर्ग शिकारी को देखकर अपना मुख बालू में छिपाकर अपनी सुरक्षा अनुभव करते हैं। आज के संसार में बढ़ रही अशांति और असुरक्षा इस सिद्धांत की ही देन है।

प्रकृति में बड़ी शक्तियों द्वारा छोटी शक्तियों के शोषण के सिद्धांत अपवाद मात्र है। अधिकांश संसार तो सहयोग और सामूहिकता के सिद्धांत पर जीवित है। उस क्षण की कल्पना करें, जब सारे संसार के लोग बुद्धि-भ्रष्ट हो जाएँ और परस्पर शोषण पर उतर आएँ तो सृष्टि का विनाश एक क्षण में हो जाए। हम प्रकृति को सूक्ष्मता से देखें तो पाएँगे कि उसका अंतर्जीवन कितना करुणाशील है। छोटे-छोटे जीव-जंतु, वृक्ष-वनस्पतियाँ भी किस प्रकार परस्पर सहयोग और मैत्री का जीवनयापन कर रहे हैं। मानवीय सभ्यता तो जीवित ही इसलिए है कि इतने भौतिक विकास के बाद भी हम मनुष्य-मनुष्य के प्रति प्रेम, दया, करुणा, उदारता, सहयोग और सामूहिकता के संबंध को तोड़ नहीं सकते।

गाँव के किसानों से कोई पूछे कि वे एक खेत में कई फसलें मिलाकर क्यों बोते हैं? तो उपयोगितावाद के सिद्धांत का खंडन करने वाले तथ्य ही सामने आएँगे। ज्वार और अरहर साथ-साथ बोई जाती हैं। मूँग, उड़द और लोविया आदि दालें भी ज्वार के साथ बोई जाती हैं। ज्वार का पौधा बड़ा होता है, यदि उपयोगितावाद प्रकृतिगत या ईश्वरीय नियम होता तो वह इन दालों को पनपने न देता। होता यह है कि दालों को ज्वार के पौधों में बढ़ने और हृष्ट-पुष्ट होने में सहायता मिलती है। उधर ज्वार को नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है, सो वह काम अरहर पूरा करती है। वह

वायुमंडल से नाइट्रोजन खींचकर कुछ अपने लिए रख लेती है; शेष ज्वार को दे देती है, जिससे वह भी बढ़ती और अच्छा दाना पैदा करने की शक्ति ग्रहण करती रहती है। हमारे देश का सामाजिक ढाँचा इसी दृष्टि से बनाया गया था। वर्ग बँटे थे। लोहार अपना काम करता था, बढ़ई अपना, नाई, तेली, मोची, सफाईकर्मी सब अपना-अपना काम करते थे और अपने जीवनयापन के साधनों को परस्पर विनिमय के द्वारा बाँट लेते थे।

इस तरह परस्पर स्नेह, आत्मीयता और प्रेमभाव बना रहता था। तब मुद्राओं का ऐसा प्रचलन न था। आज मुद्रा स्वयं ही एक समस्या बन गई है और इस प्रकार का सहयोग न होने से आर्थिक खींचा-तानी पैदा हो रही है। साम्यवाद और पूँजीवाद का संघर्ष परस्पर सहयोग के सिद्धांत की अवहेलना के फलस्वरूप ही है।

पान की बेल आम के वृक्षों के सहारे ही बड़े अच्छे ढंग से बढ़ती है। उन्हें किसी घने वृक्ष की छाया न मिले तो बेचारी का जीवन ही संकट में पड़ जाए। यहाँ बड़ा, छोटे के हितों की रक्षा करता है। अमरबेल बेचारी जड़हीन होने से स्वयं सीधे आहार नहीं ले सकती, इसके लिए उसे बड़े वृक्षों का ही संरक्षण मिलता है। जिनके पास भी साधन और संपत्तियाँ हैं, वे उसे अपनी ही न समझकर समस्त वसुधा की समझकर आवश्यकतानुसार उदारतापूर्वक अल्पविकसितों को बाँटते रहें तो विषमता उत्पन्न ही क्यों हो? आर्थिक साधन ही नहीं विद्या, बुद्धि, कला-कौशल, स्वास्थ्य, सौंदर्य आदि मानवीय विशेषताएँ भी एकस्थ नहीं होनी चाहिए, हमारे पास जो भी योग्यता हो उसे पिछड़े वर्ग के विकास में स्वेच्छापूर्वक दान करना चाहिए।

बड़ी शक्तियाँ छोटी शक्तियों का शोषण करें, यह प्राकृतिक नियम नहीं है। प्रकृति आश्रित को जीवन देने और उसके विकास में

सहायता करने का कार्य करती है। 'छोटी पीपल' महत्त्वपूर्ण औषधि है, वह अपना विकास किसी घने छायादार वृक्ष के नीचे ही कर सकती है। बड़ा पेड़ अपने नीचे के छोटे पेड़ों को खा ही जाए, यह कोई सार्वभौम नियम नहीं है।

एक गाँव में एक अंधा रहता था, दूसरा लँगड़ा। एक दिन अकस्मात गाँव में आग लग गई। समर्थ लोग अपना-अपना सामान लेकर सुरक्षित भाग निकले। लँगड़ा और अंधा दो व्यक्ति ही ऐसे रहे, जिन बेचारों के लिए बाहर निकलना संभव न था। एकाएक अंधे को एक उपाय सूझा। उसने लँगड़े से कहा, "यदि आप मुझे रास्ता बताते चलें तो मैं आपको कंधे पर बैठाकर यहाँ से निकल सकता हूँ और इस तरह हम दोनों ही यहाँ से सुरक्षित बच सकते हैं।" लँगड़े की योजना पसंद आ गई। अंधे ने उसे कंधों पर बैठाया। लँगड़ा उसे दिशा दिखाता चला और इस तरह दोनों एक रास्ते से आग की लपटों से बचकर बाहर आ गए।

अंधे और लँगड़े की यह कहानी मनुष्य समाज की सुरक्षा, सहानुभूति और सुख के सिद्धांत का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यहाँ कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं, सब अपूर्ण हैं। डॉक्टर औषधिशास्त्र का पंडित हो सकता है, कानूनशास्त्र का नहीं। इंजीनियर मशीनों का ज्ञाता होकर भी व्यापारशास्त्र की दृष्टि से निरा बालक रहता है। वैज्ञानिक के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपने ही बच्चों का शिक्षण आप कर ले, उसके लिए उसे प्रशिक्षित अध्यापकों वाले कॉलेज का ही सहयोग लेना पड़ेगा। अपूर्णताओं वाले संसार में यदि उपयोगितावाद को खुला समर्थन दिया जाने लगे तो सब के सब अपने को उपयोगी मानकर छल-कपट, शोषण और अत्याचार करने लगें, ऐसी स्थिति में अशिक्षित किंतु स्वस्थ और बलिष्ठ भी अपने शरीर की उपयोगिता सिद्ध करना चाहेगा। वह चोरी, डकैती और दूसरे तरह के अपराध

करेगा, क्योंकि उसे न्याय और नियंत्रण में रखने वाली बौद्धिक शक्ति स्वयं पंगु हो चुकी होती है। यदि सब उदारतापूर्वक एक-दूसरे से सहयोग का मार्ग अपना लें तो हर कोई स्वयं साधनों में भी आनंद की उपलब्धि कर ले। आज की स्थिति जो गड़बड़ है, उसका दोष इस उपयोगिता को ही दिया जा सकता है।

एककोशीय जीवों को प्रोटोजोआ कहते हैं। इनके हाथ-पैर, मुख आदि कुछ नहीं होते। एक नाभिक (न्यूक्लियस) होता है और उसके आस-पास 'साइटोप्लाज्म'। अमीबा एक ऐसा ही प्रोटोजोआ है। इसी की जाति का 'पैरामीशियम' नामक जीव जब थक जाता है और जीवनीशक्ति बहुत कम पड़ती जाती है या बुढ़ापा अनुभव करता है, तब दो पैरामीशियम मिलकर एकदूसरे से साइटोप्लाज्म (एक प्रकार का द्रव सा होता है जिसमें पानी के अतिरिक्त गैस, खनिज धातुएँ, लवण, पोटेशियम, फास्फोरास आदि विभिन्न तत्त्व होते हैं) अदल-बदल लेते हैं, इससे उनमें पुनः एक नई शक्ति आ जाती है, जबकि मनुष्य समाज अपने माता-पिता और बुजुर्गों का केवल इसीलिए तिरस्कार करते रहते हैं, क्योंकि वे शक्ति और आजीविका की दृष्टि से अनुपयोगी हो जाते हैं।

उपयोगी के प्रति आसक्ति और रुझान तथा अनुपयोगी अनावश्यक के प्रति उपेक्षा-तिरस्कार की वृत्ति प्रकृति व्यवस्था के विरुद्ध है। प्रकृति मनुष्य को इस बुराई के विरुद्ध चेतावनी देती है और यह बताती है कि मनुष्य स्वयं औरों से सहयोग, सहानुभूति प्राप्त करे तथा उनके प्रति भी वैसा ही सद्भाव रखे। उपयोगी जीवों के प्रति सेवाभाव रखना और अनुपयोगी के प्रति उपेक्षा तथा अनुदारता का भाव रखना मानवीय कृपणता के अतिरिक्त कुछ नहीं। जिस तरह परस्पर व्यवहार में छोटों के प्रति सम्मान और कृतज्ञता की भावना

रखते हैं उसी प्रकार सभ्यता और प्रगतिशीलता का मापदंड यह है कि हम अनुपयोगी जीवों के प्रति भी वैसी ही उदारता की भावना रखें।

वैसे भी प्रकृति के संतुलन की दृष्टि से हर जीव उतना ही उपयोगी है जितने कि गाय, बैल, भैंस, घोड़े और गधे। चील, कौवे सड़े-गले मांस को ठिकाने न लगाएँ तो सारा वातावरण दूषित हो जाए। अनेक बैक्टीरिया कृषि उपज के लिए अत्यधिक लाभदायक होते हैं। कई जीव-जंतुओं से बहुमूल्य चमड़ा और समूर मिलता है तो अनेक परस्पर एकदूसरे की असह्य बाढ़ को नियंत्रित कर अंततः मानव जीवन के लिए उपयोगिता सिद्ध करते हैं। इस दृष्टि से सृष्टि का हर जीव उपयोगी और आवश्यक है। उनकी दुष्टता के प्रति ताड़ना का दृष्टिकोण रखा जाए, यहाँ तक उचित, किंतु उनके प्रति दुष्टता का व्यवहार मनुष्य जैसे भावनाशील प्राणी के लिए कदापि उचित नहीं हो सकता। हमारी बुद्धि प्राणिमात्र के प्रति दया और करुणा की आत्मीयतापूर्ण संवेदना से ओत-प्रोत रहे, यही मनुष्यता है। मात्र मनुष्य जाति के प्रति विनम्र और कृपालु रहना अपर्याप्त है। सहकार वस्तुतः मानवी अस्तित्व के लिए अपरिहार्य है।

सहकार ही जीवन का प्राण

क्या वास्तव में ही प्रकृति में बड़ों के बड़े महत्त्व का सिद्धांत कार्य करता है। प्रिंस क्रोपाटकिन ने जान स्टुअर्ट मिल के इस उपयोगितावाद (यूटेलिरिज्म) सिद्धांत की शव परीक्षा का निश्चय किया। वे प्रकृति की पुस्तक खोलकर बैठ गए फिर उन्होंने जो पढ़ा और जो निष्कर्ष निकाले, वे न केवल उक्त तथ्य का खंडन, प्रकृति में सहयोग और सहजीवन के सिद्धांत का समर्थन करते हैं अपितु उन घटनाओं से जो उनने अपनी पुस्तक 'सहयोग और संघर्ष' में

संकलित की हैं, पढ़कर मानव-मन को जीवमात्र के प्रति उदारता की, सहयोग की और सहायता की प्रेरणा मिलती है।

ऐसे उदाहरण स्थान-स्थान पर, प्रत्येक जीव की सृष्टि में देखने को मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि यह संसार परस्पर विश्वास, आत्मीयता, सहयोग तथा 'जियो और जीने दो' के सिद्धांत का पालन करता है। सामूहिकता की भावना चीतलों में बहुत अधिक पाई जाती है। देहरादून के समीप बने कार्बेट नेशनल पार्क में देखा गया है कि कई बार गाँवों से चरने आए जानवरों में भी वे अपनी इसी भावना के साथ घुल-मिल जाते हैं और साथ-साथ चरने लगते हैं।

चीतलों और बंदरों की दोस्ती भी दिलचस्प होती है। गरमियों के दिनों में जब जंगल में तरह-तरह के फल लगते हैं, यह मैत्री अत्यंत प्रगाढ़ हो जाती है। मित्रता प्रायः चीतल ही करते हैं। उसका कारण यह है कि बंदर पेड़ों पर चढ़ जाते हैं, चीतल चढ़ नहीं पाते। बंदर उनके लिए ऊपर से फल गिराते हैं, जिन्हें मित्र चीतल मंडली प्रेमपूर्वक खाती है। बंदर चीतल समुदाय की दोस्ती ठुकरा सकते हैं किंतु वे इस बात को नहीं भूलते कि एक ही जंगल में रहने के नाते वे भी उनके भाई और सहयोग के पात्र हैं।

राजगिद्ध आकाश में एक सांकेतिक गति से उड़ान भरकर दूर-दूर तक के अपने साथियों को मृतक की दावत का संकेत देते हैं। थोड़ी ही देर में सैकड़ों गिद्ध एकत्र हो जाते हैं किंतु भोज की शुरुआत वही गिद्ध करता है जो अन्यों को आमंत्रित करता है। यही नहीं मृतक जीव शरीर का कोमल भाग उसे ही खाने को मिलता है शेष शरीर के अन्य अंगों के मांस पर संतोष करते हैं।

पारिवारिक भावना शेरों में भी होती है, साथ ही अनुशासन की प्रवृत्ति भी। अकसर हठ या चंचलता व्यक्त करने वाले बालक को

शेरनी ही डपटती है, पर कई बार शेर भी दंगा करने वाले की पिटाई कर देता है। बंदरिया अपने बच्चे को ताड़ना हलकी चिकोटी काटकर करती है। अनुशासन के नाम पर दंड दिया जाना अमानवीय कृत्य नहीं वरन वह तो आवश्यकता है और उससे भी प्रकारांतर से अन्यों के प्रति भलाई की ही भावना का पोषण होता है।

पाश्चात्य देशों में कामकाजी महिलाओं ने अपने बच्चों के पालन-पोषण के लिए 'बेबी-सिटिंग' परंपरा चलाई है। एक मुहल्ले की काम पर जाने वाली महिलाएँ किसी कुशल दाई को वेतन पर इस कार्य के लिए नियुक्त कर लेती हैं, जितने समय वे दफ्तरों में काम करती हैं, यह नर्स ही बच्चों की देखभाल करती है। लगता है कि पश्चिमी देशों ने यह परंपरा जीवों का अनुकरण करके अपनाई है। कोयल तो बिना कुछ कीमत दिए चालाकी से यह कार्य कौवे से करा लेती है किंतु शेर, जिराफ, हाथी प्राय: अपने क्षेत्रों में पाए जाने वाले विश्वसनीय जानवरों के संरक्षण में बच्चों को छोड़कर निकल जाते हैं, ऐसे जानवर आश्रयदाता पर कभी आक्रमण नहीं करते। जान एडम्सन, जिन्होंने केन्या में खूँखार शेर तक पालने का करिश्मा दिखाया है, ने अपनी पुस्तक में एक ऐसे शुतुर्मुर्ग का उल्लेख किया है जो दूसरी विभिन्न जातियों के १२० बालकों की देखभाल करती थी। उन्हें खिलाने-पिलाने से लेकर भटकने से बचाने तक की सारी जिम्मेदारी वह कुशलता से निभाती थी।

किसी समय भारतीय परिवार सम्मिलित कुटुंब प्रणाली के लिए विश्वविख्यात थे; किंतु आज यह परंपरा धीरे-धीरे नष्ट हो चली। आधुनिक सभ्यता के नाम पर नवदंपती न केवल अलग रहना पसंद करते हैं अपितु वे परिवार के बुजुर्गों यहाँ तक कि अपने माता-पिता को भी अनुपयोगी कहकर उनसे घृणा करने लगे, किंतु

यह वृद्ध कितने उपयोगी होते हैं, इसका पता नवगृहिणी के प्रसव आदि के समय चलता है, जबकि दादी-माताएँ ही उन्हें शिशु-पोषण के इस कठिन दायित्व से मुक्त रखतीं और बच्चों के पोषण जैसे दुस्तर कार्य को वे खुशी-खुशी, भावनापूर्वक जमादारिनी की तरह करती हुई प्रसन्न और प्रफुल्ल रहती हैं, वे कितना बड़ा बोझ उठाती हैं, यह सहज समझ में आने वाली बात है।

मनुष्य जाति इस प्रथा को भूलकर अमानवीय आचरण पर उतर रही है किंतु अनेक जीव अब भी इस उपयोगी परंपरा को कायम किए हैं। संभवतः वे अंत तक इस कार्य में निष्ठा बनाए रखेंगे। डाल्फिन जाति की मछलियों में चिरकाल से यह परंपरा चली आ रही है। डाल्फिन जब गर्भावस्था में होती है तब उसी जाति की कोई वृद्ध मादा बहू और नाती की सुरक्षा के लिए उन्हें अपनी पीठ पर तब तक चढ़ाए घूमती है जब तक शिशु जन्म न ले ले।

शेरों में ऐसी प्रथा है कि दूसरी शेरनी प्रसूता की सहायता करती और उसके बालकों की देखभाल करती है। कदाचित कभी शेरनी का निधन हो जाए तो वही पालिका उनकी माँ बन जाती है और उनका पालन विमाता की तरह नहीं सगी माता की तरह व्यवस्था और लाड़-प्यार से करती है किंतु मनुष्यों में विमाता के प्रति सामान्य दृष्टि कितनी संकीर्ण है—यह सभी जानते हैं। सभी मामलों में यह भले ही न हो तो भी प्रायः वैसा ही होता है जैसी मान्यता बन गई है।

बोनीलिया मादा नर की अपेक्षा इतनी बड़ी होती है कि वर्षों तक जीवशास्त्री इन्हें दो जाति के जंतु समझते रहे। मादा अपने नर को आजीवन अपने पेट की थैली में रखती है। यहीं से उसे आहार, विश्राम आदि सभी कुछ मिलता रहता है। इस गुण के कारण ही वर्षों अध्ययन के बाद यह पता लगाया जा सका कि दोनों ही जंतु एक ही जाति के नर व मादा हैं।

अपेक्षाकृत अपने से कृशकाय पति का भार आजीवन ढोने वाली बोनीलिया सहकारी जीवन का एक अनूठा उदाहरण है और इस बात की प्रेरणा कि संसार में मैत्री का आधार समान हित-समान स्वार्थ साधक रही नहीं, कष्ट सहकर भी दूसरों का कल्याण भावनात्मक आदान-प्रदान होना चाहिए। उससे जीवन में कहीं अधिक गति और रस आता है।

लाइकेन जीव विज्ञान का ऐसा शब्द है जो प्रकृति के सह-जीवन का उद्घोष करता है। बरसात के दिनों में जहाँ-तहाँ उगने वाले कुकुरमुत्तों को तुलसीदास ने 'सुकृत' की उपमा दी है। वास्तव में यह है भी ऐसा ही। देखने में तो यह लगता है कि कुकुरमुत्ता जिस पेड़ पर या पत्थर की चट्टान पर उगा है, वही उसका आश्रय और पोषक है, पर तथ्य इससे विपरीत है। इसके कोमल तने के अंदर जल शैवाल नाम का कोश-समुदाय निवास करता है। वह कुकुरमुत्ते के भीतर न केवल सुरक्षित बना रहता है, अपितु कुकुरमुत्ते के इस उपकार का बदला वह उसे प्रकृति जीवनतत्त्व खींचकर कुकुरमुत्ते को दे देता है जिससे उसका भी विकास होता रहता है। इसी तरह का संबंध घोंघे में रहने वाले कर्कट तथा 'सी एनीमोन' के बीच पाया जाता है। कर्कट आजीवन इन्हें पीठ पर बैठाए घूमता रहता है। यह जीव इस उपकार का बदला कर्कट की जीवन-रक्षा में सहायता के रूप में करते हैं। कर्कट अनेक जल-जीवों का प्रिय भोजन है किंतु यह एनीमोन अपने शरीर से एक प्रकार का विषैला द्रव निकालते रहते हैं जिसके भय से आक्रामक जीव कर्कट से कोसों दूर भागते हैं।

जैसा कि नाम से जाना जा सकता है, फ्रांस में पाया जाने वाला मेल मिडवाइफ टोड नामक मेढक मादा को बच्चे सेने का कष्ट नहीं देता। वह अंडों को स्वयं अपनी टांगों में तब तक चिपकाए रहता है जब तक उनसे बच्चे न निकल आएँ। इस तरह वह न केवल अपनी

पारिवारिकता का परिचय देता है, अपितु आदर्श दांपत्य निष्ठा का भी। परस्पर एकदूसरे के प्रति इस तरह उदार और सहायक बने रहने से इस मेढक परिवार की तरह चाहें तो मनुष्य भी अपने पारिवारिक जीवन को आदर्श और आनंदपूर्ण बनाए रख सकते हैं।

जिराफ और जेबरा की दोस्ती जीवजगत की एक अनोखी घटना है। जिराफ जेबरे को खाना खिलाता है, जेबरा न केवल संकट के समय जिराफ को उसकी पूर्व जानकारी देता है, अपितु उसकी प्राण देकर भी सहायता करता है।

पानी में तैरते दरियाई घोड़े की पीठ पर बैठी चिड़ियों से दोस्ती भी ऐसी ही है। चिड़ियाँ उसकी पीठ पर बैठकर न केवल अपने लिए आहार प्राप्त करती हैं, अपितु सैर का भी आनंद लेती हैं। दरियाई घोड़े का भी उसमें अपना स्वार्थ है। अपने शरीर और मुँह पर लगे अवांछनीय तत्त्वों की सफाई वह इन चिड़ियों से करा लेता है। इस तरह उनकी यह मैत्री प्रगाढ़ रूप में चलती रहती है।

सहयोग का यह क्षेत्र जीव, जीव तक ही सीमित नहीं; मनुष्य और जीव-समुदाय परस्पर भी इस मैत्री और उदार सहकारिता के पुण्यफल लंबे अरसे से प्राप्त करते चले आ रहे हैं। तोते और मैनाओं के द्वारा चोरों से मालिक की सुरक्षा के दृश्य तो कभी-कभी रखने में आते हैं पर खाकी रंग की ५ इंच की छोटी सी चिड़िया हनीगाइड का उपकार तो मनुष्य के साथ वर्षों से जुड़ा है। हनीगाइड शहद ढूँढ़ने वालों के लिए गाइड का काम करती है। वह जैसे ही किसी शहदिए (शहद निकालने वाले) को देखती है एक विशेष प्रकार की आवाज करती है उसे अपनी ओर आकर्षित करती है। अब वह आदमी उसके पीछे-पीछे चलने लगता है। हनीगाइड इसी तरह चहचहाती एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक चलती हुई उसे उस स्थान तक पहुँचा देती है, जहाँ शहद का छत्ता लगा होता है। इसमें उसका अपना भी स्वार्थ है। मधु

छत्ते का मोम उसका विशेष प्रिय भोजन है। यह सहयोग वह इसी के लिए करती है किंतु कदाचित शहदिए ने यह भूल की कि छत्ते का मोम उसे खाने के लिए नहीं छोड़ा तो फिर वह उसे जंगल में बहकाकर किसी ऐसे स्थान पर पहुँचा देगी, जहाँ कोई खूँखार सर्प या भयानक जंगली जीव होगा। इस भय से मनुष्य को उसके साथ विश्वासघात की हिम्मत नहीं होती। आदमी छत्ता स्वयं ढूँढ़े और हनीगाइड भी वहाँ पहुँच जाए पर मोम न मिले तो वह यह असहिष्णुता नहीं दिखाएगी। वह विशुद्ध अपने परिश्रम का ही लाभ लेने की इच्छुक रहती है पर ऐसी परिस्थिति में भी वह उस व्यक्ति को पहचानने और भविष्य में उससे दोस्ती जोड़ने की दूरदर्शिता से भी चूकती नहीं।

हनीगाइड के शरीर में कोई ऐसा तत्त्व है, जो मोम को पिघला देने में सक्षम है। वैज्ञानिक अभी तक उस तत्त्व की खोज नहीं कर पाए। अब ऐसी आशा बँधी है कि हनीगाइड संभव है, इस कठिनाई का निराकरण कर दे। ऐसा हुआ तो 'आर्टरियोस्कलेरोसिस' धमनियों के सख्त हो जाने जैसी असाध्य बीमारियों का निदान संभव हो जाएगा।

वस्तुतः मानव, मनुष्येतर जीव एवं वृक्ष-वनस्पति सभी प्रकृति की सृजन चेतना के एक अंग हैं। भावनात्मक दृष्टि से दोनों समान हैं। कबीर की वह उक्ति सत्य है—

साईं के सब जीव हैं, कीरी कुञ्जर दोय।
का पर दया कीजिए, का पर निर्दय होय॥

इस तत्त्वदर्शन को दृष्टिगत रख परस्पर सहकार-सद्भाव भरा जीवन जिया जाए, यही परब्रह्म को अभीष्ट है।

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)

: युगऋषि पं. श्रीराम शर्मा आचार्य- संक्षिप्त परिचय :
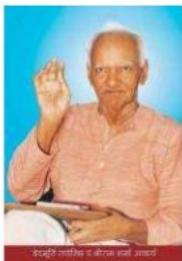
ज्यादा जानकारी यहाँ से प्राप्त करें :
http://hindi.awgp.org/about_us

- **विचारक्रान्ति अभियान के प्रणेता :** विचारों को परिस्कृत और ऊँचा उठाने मे समर्थ 3000 से भी अधिक पुस्तकों के लेखन के माध्यम से विश्वव्यापी विचार क्रान्ति अभियान की शरुआत की ।
- **वेद, पुराण, उपनिषद के प्रसिद्ध भाष्यकार :** जिन्हों ने चारों वेद, 108 उपनिषद, षड दर्शन, 20 स्मृतियाँ एवं 18 पुराणों का युगानुकूल भाष्य किया, साथ ही 19 वाँ प्रज्ञा पुराण की रचना भी की ।
- **3000 से अधिक पुस्तकों के लेखक :** मनुष्य को देवता समान, घर-परिवार को स्वर्ग, समाज को सभ्य और समग्र विश्वराष्ट्र को श्रेष्ठ बनाने मे समर्थ हजारों पुस्तकें लिखकर समयानुकूल समर्थ मार्गदर्शन प्रदान किया ।
- **युग-निर्माण योजना के सूत्रधार :** जिन्होंने शतसूत्री युग निर्माण योजना बनाकर नये युग की आधार शिला रखी ।
- **वैज्ञानिक-अध्यात्मवाद के प्रणेता** : जिन्हों ने धर्म और विज्ञान के समन्वय की प्रथम प्रयोगशाला 'ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान' स्थापित कर सिद्ध किया कि "धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं, पुरक है "।
- **'२१ वीं सदी : उज्वल भविष्य' के उद्दघोषक** : जिन्हों ने '२१ वीं सदी : उज्वल भविष्य' का नारा दिया तथा युग विभीषिकाओं से भयग्रस्त मनुष्यता को नये युग के आगमन का संदेश दिया ।
- **स्वतंत्रता संग्राम के कर्मठ सैनानी** : जिन्हों ने महात्मा गाँधी, मदन मोहन मालवीय, गुरुवर रविन्द्रनाथ टैगोर के साथ राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया एवं स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी "श्रीराम मत्त" के रुप में प्रख्यात हुए ।
- **गायत्री के सिद्ध साधक** : जिन्हों ने गायत्री और यज्ञ को रुढियों और पाखण्ड से मुक्त कर जन-जन की उपासना का आधार तथा सद्बुद्धि एवं सतकर्म जागरण का माध्यम बनाया ।
- **तपस्वी** : जिन्होंने गायत्री की कठोरतम साधना कर २४-२४ लाख के २४ महापुरश्चरण २४ वर्षो में सम्पन्न किया । प्रकृति प्रकोप को शांत कर अनिष्टों को टाला, सृजन सम्भावनाओं को साकार किया ।
- **अखिल विश्व गायत्री परिवार के जनक** : जिन्हों ने अपने जीवनकाल में ही अपने साथ करोडों लोगों को आत्मियता के सूत्र में बाँधकर विश्व व्यापी 'युग निर्माण परिवार' - 'गायत्री परिवार' का गठन किया ।
- **समाज सुधारक** : जिन्हों ने नारी जागरण, व्यसन मुक्ति, आदर्श विवाह, जाति-पाँति प्रथा तथा परंपरागत रुढियों की समाप्ति हेतु अद्भूत प्रयास किए एवं एक आदर्श स्वरुप समाज में प्रस्तुत किया ।
- **ऋषि परम्परा के उद्धारक** : जिन्हों ने इस युग में महान ऋषियों की महान परंपराओं की पुनर्स्थापना की । लुप्तप्राय संस्कार परंपरा को पुनर्जीवित कर जन-जन को अवगत कराया ।
- **अवतारी चेतना** : जिन्होंने "धरती पर स्वर्ग के अवतरण और मनुष्य में देवत्व के जागरण" की अवतारी घोषणा को अपना जीवन लक्ष्य बनाया और चेतना का ऐसा प्रवाह चलाया कि करोंडों व्यक्ति उस ओर चल पड़े ।

गायत्री परिवार जीवन जीने कि कला के, संस्कृति के आदर्श सिद्धांतों के आधार पर परिवार,समाज,राष्ट्र युग निर्माण करने वाले व्यक्तियों का संघ है। **वसुधैवकुटुम्बकम्** की मान्यता के आदर्श का अनुकरण करते हुये हमारी प्राचीन ऋषि परम्परा का विस्तार करने वाला समूह है गायत्री परिवार। एक संत, सुधारक, लेखक, दार्शनिक, आध्यात्मिक मार्गदर्शक और दूरदर्शी युगऋषि पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा स्थापित यह मिशन युग के परिवर्तन के लिए एक जन आंदोलन के रूप में उभरा है।